CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust.

डा. सुन्दर लाल कथूरिया

रस-सिद्धान्त और नाटक

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

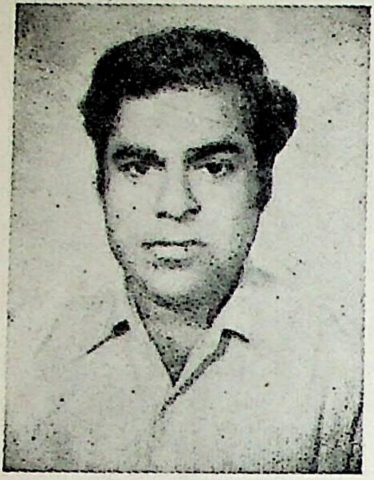

जन्म तिथि—एक जुलाई, उन्नीस सौ इकतालीस (१-७-१९४१)

जन्म स्थान—दराबन कलाँ, डेरा इस्माइल खाँ (उत्तर - पश्चिमी सीमा प्रांत), अब पाकिस्तान में।

शिक्षा-स्थान—बिल्थरा रोड (बलिया) चाँद पुर (बिजनौर), जौनपुर, दिल्ली और राँची।

शिक्षा—शास्त्री (प्र०खं०)—वाराणसेय सं० वि-वि० से, एम० ए०, एम० लिट्० पी-एच० डी०—दिल्ली से, डी०लिट्,—राँची से।

साम्प्रतिक वृत्ति—आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज (दिल्ली वि० वि०) धौलाकुआँ, नयी दिल्ली के हिन्दी-विभाग में वरिष्ठ प्राध्यापक।

सम्मान/पुरस्कार—'आधुनिक युग में नवीन रसों की परिकल्पना' शीर्षक ग्रंथ पर अखिल भारतीय सूर पुरस्कार। चार बार अखिल भारतीय पुरस्कारों से सम्मानित। सृजनमंच, उदयपुर द्वारा 'लोकमान' से विभूषित। साहित्य-संगम, नयी दिल्ली द्वारा अभिनंदित।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रस-सिद्धान्त और नाटक

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रस-सिद्धान्त और नाटक

लेखक :
डॉ० सुन्दरलाल कथूरिया
एम०ए०, एम०लिट्०, पी-एच०डी०, डी० लिट्०
रीडर-वेतनमान-प्राध्यापक
आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
नयी दिल्ली-११००२१

१९८५

प्रकाशिका :
देववाणी-परिषद्, दिल्ली
६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९
(भारतम्)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रस-सिद्धान्त और नाटक (समीक्षा)

लेखक : डॉ० सुन्दरलाल कथूरिया

© : लेखक

प्रकाशक : देववाणी-परिषद्, दिल्ली
६, वाणी-विहार, नयी दिल्ली-११००५९

अक्षरयोजक : प्रवीण प्रिंटिंग सर्विस
३५, टी एक्स०, उत्तम नगर,
नई दिल्ली-११००५९

मुद्रक : मानस प्रिंटिंग प्रैस
९/४७५३, पुराना सीलमपुर, गाँधी नगर
दिल्ली-११००३१

संस्करण : प्रथम, १९८५

मूल्य : साठ रुपये मात्र रु० ६०.००

Rasa-Siddhānta aura Nāṭaka
(Literary Criticism)

Author : Kathuria, Dr. Sunder Lal

© : Author

Publisher : Devavani Parishad, Delhi
6, Vani-Vihar, New Delhi-110059

Composed at : Parveen Printing Service
35, T Extn., Uttam Nagar,
New Delhi-110059

Printed at : Manas Printing Press
IX/4753, Old Seelampur, Gandhi Nagar,
Delni-110031

Edition : First, 1985

Price : Rs. Sixty Only Rs. 60.00

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रास्ताविकम्

'देववाणी-परिषद्, दिल्ली' की सद्ग्रन्थ-प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत भारतीय साहित्यशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ चिन्तक डॉ० सुन्दरलाल कथूरिया के 'रससिद्धान्त और नाटक' शीर्षक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

संस्कृत-नाट्य का प्राणाधायक तत्त्व रस है। भरत मुनि के अनुसार—'न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।' नाट्य का चरम उद्देश्य दर्शक को तल्लीन करना अथ च उसे रसोपलब्धि कराना है। रस और नाट्य में जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह संस्कृत नाट्याचार्यों के साथ नाटककारों को भी स्वीकार्य था। संस्कृत के प्रतिनिधि नाटकों—अभिज्ञानशाकुन्तलम्, उत्तररामचरितम्, मृच्छकटिकम् आदि के अवलोकन से यही तथ्य प्रमाणित होगा। इन तथा इस प्रकार के अन्य नाटकों के प्रेक्षण से किस सहृदय का हृदय रस निमज्जित न होगा ?

संस्कृत का प्रभाव मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के साहित्य पर तो स्पष्टतः लक्षित किया ही जा सकता है, भारतीय भाषाओं का आधुनिक साहित्य भी उस प्रभाव से अछूता नहीं है। 'रस-सिद्धांत और नाटक' शीर्षक प्रस्तुत कृति में रस-सिद्धांत के जाने-माने चिन्तक डॉ० सुन्दरलाल कथूरिया ने रस और नाट्य के घनिष्ठ अन्तःसम्बन्धों का अन्वेषण और अन्वाख्यान तो किया ही है, हिन्दी नाटककारों की रस-दृष्टि पर भी प्रकाश डाला है और पाश्चात्य नाट्यालोचन के उन सन्दर्भों का भी उल्लेख किया है जो भारतीय रस-चिन्तन के निकट बैठते हैं। पाश्चात्य प्रभाव के कारण हिन्दी-नाट्य-समीक्षा में जिन नाट्य-तत्त्वों—कथानक, पात्र, संवाद, भाषा-शैली, देशकाल और वातावरण, रंग-दृष्टि, उद्देश्य—की धूम मची हुई है, उनमें रस के आधार का अनुसंधान लेखक की तत्त्वाभिनिवेशी शास्त्रीय दृष्टि का श्लाघ्य प्रमाण है। इससे पूर्व परिषद् इस योजना में ४४ अन्य ग्रन्थों का प्रकाशन कर चुकी है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

लेखक ने प्रस्तुत कृति में केवल सैद्धांतिक धरातल पर ही रस और नाटक की चर्चा न कर उसे व्यावहारिक आधार-पीठिका भी दी है और इस दृष्टि से प्रसादोत्तर स्वातन्त्र्य-पूर्व प्रतिनिधि नाटकों की रसपरक व्यावहारिक समीक्षा प्रस्तुत कर एक उल्लेखनीय कार्य किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि संस्कृत-नाट्यालोचन में रस-चिन्तन का जो महत्त्व प्रतिपादित किया गया था वह अभी भी अप्रासंगिक नहीं हुआ है। संस्कृत-चितन्त की आधारपीठिका पर टिका यह कार्य विद्वानों द्वारा अभिशंसित होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं इस ग्रन्थ की रचना के लिए डॉ० कथूरिया का अभिनन्दन करता हूँ।

व्यास पूर्णिमा, वि. २०४२
२ जुलाई, १९८५ ई०

रमाकान्त शुक्ल
महासचिव
देववाणी-परिषद्, दिल्ली

आर ६, वाणी-विहार
नयी दिल्ली-११००५९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पातनिका

स्वातंत्र्योत्तर काव्यशास्त्रीय चिन्तन में 'रस' को केन्द्र में रखकर पक्ष-प्रतिपक्षपूर्वक पर्याप्त चिन्तन और मनन हुआ है। इस क्रम में कहीं उसके प्रति अतिरिक्त निष्ठा और कहीं अतिरिक्त नफ़रत भी उभरे हैं—इसलिए संबद्ध चिन्तन को संतुलित रखने की माँग बराबर बनी रही है और इस माँग की पूर्ति भी होती रही है। पूर्ण चेतनावादी भारतीय पारम्परिक मनीषा ने अपने सर्वविध व्यापार—परमार्थ, व्यवहार और शास्त्र—के केन्द्र में 'अस्मिता' की उपलब्धि को रखा है—'स्व-भाव' की अपरोक्षानुभूति को रखा है और वह 'अस्मिता' या 'स्व-भाव' पारम्परिक शब्दावली में 'नित्य, निरतिशय आनन्द' है—जिसे उपनिषदें 'रस' संज्ञा से अभिहित करती हैं। उनका विचार है कि यदि सर्जन 'स्व-भाव' में स्थित है तब उसके तत्प्रेरित व्यापार की परिणति 'रस' में होगी ही और यदि प्रतिकूल धक्के से 'अ-स्व-भाव-स्थ' है तो अन्यथा स्थिति होगी।

रचना की परिधि अपने भीतर कई अवान्तर परिधियाँ रखती है। उसका 'रेंज' काफी विस्तृत है—सोपान-गर्भ है। परिणत-प्रज्ञ सर्जकों की परिधि 'स्वभाव' परिचालित होती है और अतथाभूत सर्जकों की अन्यथा—अतः काव्य-व्यापार की परिणति नियमतः रसात्मक ही नहीं होती—पारम्परिक चिन्तकों ने इसीलिए काव्य के भेद माने हैं—उत्तम, मध्यम, अधम। इसलिए कृतिमात्र का पर्यवसान रसात्मक मनोदशा में ही होता है—ऐसा पूर्वग्रह रखकर नहीं चलना चाहिए। परम्परा की चेतना इसके विपरीत भी है।

स्वातंत्र्य-लाभ के बाद अस्मिता की वापसी, भारतीयता की खोज या उसकी पुनः प्रतिष्ठा की ओर दृष्टि होनी स्वाभाविक है। फलतः 'रस' को चिन्तन का केन्द्र बनना भी स्वाभाविक है। विद्वान् लेखक डॉ० कथूरिया ने श्रव्य और दृश्य—उभयविध काव्यधारा के साक्ष्य पर इस दिशा में श्लाघ्य प्रयास किया है। प्रस्तुत कृति केवल नाट्य साहित्य या दृश्य काव्य के साक्ष्य पर सैद्धांतिक चिन्तन के साथ आई है। उसने जहाँ एक ओर सैद्धांतिक चिन्तन के क्षेत्र में

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अतीत के साथ वर्तमान चिन्तकों के चिन्तन को भी दृष्टिगत रखा है वहीं स्वातंत्र्य पूर्व नाट्यकृतियों का साक्ष्य भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उसका चिन्तन वायवीय और निराधार होने से बच गया है। इस सन्दर्भ में उसने आधुनिक चिन्तकों और सर्जकों के निष्कृष्ट मतों को भी उद्धृत कर अपने पक्ष की पुष्टि की है और विपरीत पड़ने वाले प्रति तर्कों का समाधान भी दिया है। मसलन 'द्वंद्व' को रसात्मक (अद्वंद्वात्मक) परिणति में बाधक न मानकर साधक कहा है कि जहाँ 'द्वंद्व' प्रक्रिया में हो सकता है और नाट्य-कृति में होना ही चाहिए, वहाँ रस परिणति में होता है। इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि आज का जीवन जिन विरोधी धाराओं से टकराकर द्वंद्वमय हो गया है—ढाँचा पश्चिम का और संस्कार पारम्परिक भारत का—वहाँ की रचना भावक या ग्राहक को चिन्तन की ओर उत्तेजित करेगी अथवा निमग्नता की ओर ? डॉ० कथूरिया इन तमाम प्रश्नों से जूझते हैं और अपनी प्रातिभ-सीमा में उन्हें समाहित करने का प्रयत्न करते हैं। मैं उनके इस प्रयत्न की सराहना करता हूँ और विश्वास रखता हूँ कि सहृदय पाठकों को इस कृति से बहुत कुछ सोचने समझने की सामग्री मिलेगी।

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी अध्ययन शाला
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन (म०प्र०)

१९.६.१९८५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्राक्कथन

रस-सिद्धान्त का मूल प्रयोग-क्षेत्र वस्तुतः नाटक ही है। नाट्य में रस आत्म-स्थानीय है। अन्य नाट्य-तत्त्व एवं नाट्यांग उसकी सिद्धि के माध्यम मात्र हैं। नाट्य में दर्शक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और नाटक का अन्तिम लक्ष्य उसे रसानुभूति कराना है। जो नाटक सहृदय प्रेक्षक को रस-निमज्जित नहीं करता, उसे मूल्यवान अथवा सफल नाटक नहीं माना जा सकता। रस और नाटक का यह घनिष्ठ सम्बन्ध संस्कृत-नाट्यालोचकों को ही नहीं, नाटककारों को भी मान्य था, फलतः नाटक का आलेख तैयार करते समय वे सजगतापूर्वक रस का विधान करते थे, अन्य नाट्य-तत्त्वों को रसाश्रयी बनाते थे। समीक्षा के व्यावहारिक धरातल पर, मूल्यांकन-प्रतिमान के रूप में भी तब रस की महत्त्व-प्रतिष्ठा थी। संस्कृत-टीकाकारों द्वारा नाट्य-मर्म का उद्घाटन करते समय रसोल्लेख अथवा रस-विश्लेषण का प्रयत्न इसका स्पष्ट प्रमाण है। मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के नाट्य-साहित्य के सन्दर्भ में भी रस की सार्थकता एवं मूल्यवत्ता असंदिग्ध है।

हिन्दी के आदि और मध्यकालीन साहित्य के अतिरिक्त भारतेन्दु और प्रसाद-युगीन काव्य का ही नहीं, नाट्य-साहित्य का भी रस-दृष्टि से विश्लेषण-मूल्यांकन किया गया है किन्तु प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटकों के रस-विधान की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि नये कवियों अथवा कवि-आलोचकों के समान अधिसंख्य प्रसादोत्तर नाटककारों अथवा नाट्यालोचकों ने नाट्य के सन्दर्भ में, न तो रस का एकांत निषेध ही किया है, न एकान्त विरोध ही—विपरीत इस के वे नाट्य की रसनीयता या तो किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करते हैं या इस विषय में मौन हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में सैद्धांतिक पीठिका के निर्माण के लिए 'रस-सिद्धान्त और नाटक' शीर्षक अध्याय में रस और नाटक के पारस्परिक घनिष्ठ अन्तः संबन्धों का अन्वाख्यान है। द्वितीय अध्याय में हिन्दी-नाटककारों की रस-विषयक अवधारणाओं का संक्षिप्त विवेचन-विश्लेणण किया गया है एवं तृतीय अध्याय में प्रसादोत्तर स्वातन्त्र्यपूर्व प्रतिनिधि नाटकों की रस-दृष्टि से व्यावहारिक

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

समीक्षा की गयी है। रस-स्थिति के अनुसंधान के लिए वस्तु-विधान, चरित्र-सृष्टि, भाषिक-संरचना, रंग-दृष्टि आदि में रस की छान-बीन के साथ अंगी रस, अंग रस एवं रसावयवों का तो निर्देश किया ही गया है, बिम्ब, प्रतीक एवं आधुनिक संवेदना के सन्दर्भ में भी रस-विश्लेषण का यथासम्भव प्रयत्न है।

प्रकाशकीय सीमाओं के कारण प्रस्तुत ग्रंथ में मुझे अपने विवेचन को स्वातन्त्र्यपूर्व काल तक सीमित रखना पड़ा है। इस संक्षिप्त विवेचन से यदि नाटक और रस के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने में कुछ योग मिला तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा। मेरी योजना है कि शीघ्र ही स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-नाटकों के आस्वाद का विवेचन करने वाली पुस्तक भी पाठकों के हाथों में पहुँचे।

इस ग्रंथ के प्रणयन में मुझे प्रख्यात नाट्यालोचक डॉ० सिद्धनाथ कुमार से बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हुए हैं। श्रद्धेय डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने अपनी अमूल्य सम्मति से मेरा उत्साहवर्द्धन किया है एवं देववाणी - परिषद् के महा-सचिव डॉ० रमाकान्त शुक्ल ने ग्रंथ आपके हाथों तक पहुँचाया है। इन सभी के प्रति मैं आभारी हूँ।

बी-३/७६, जनकपुरी,
नयी दिल्ली-११००५८ —सुन्दरलाल कथूरिया
दूरभाष : ५३६६२४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अनुक्रम

:१:

रस-सिद्धान्त और नाटक (६—४४)

१. रस-सिद्धान्त का मूल प्रयोग-क्षेत्र : नाटक/६

२. रस-सिद्धान्त : परंपरागत एवं अभिनव व्याख्या/१२
रस और रसावयव (१२), नाट्य-रस : काव्य-रस : भाव-रस (१५), आधुनिक परिप्रेक्ष्य और रस (१६)

३. आस्वादन एवं मूल्यांकन का प्रतिमान/२०

४. नाटक के तत्त्व एवं रस/२१
वस्तु-विधान और रस (२५), पात्र और रस (२७), संवाद में रस का आधार (३०), भाषा-शैली में रस का आधार (३२), देशकाल और वातावरण का विधान एवं रस-निष्पत्ति (३४), उद्देश्य और रस (३५), रंग-दृष्टि और रस (३६)

५. पाश्चात्त्य नाट्यालोचल की रसपरक व्याख्या/३७
(क) त्रासदी-कामदी विषयक विचार और भारतीय रस-कल्पना (३७)
(ख) पाश्चात्त्य काव्यवाद और भारतीय रस-दृष्टि (४०)

६. नाट्य-साहित्य के मूल्यांकन में रस का महत्त्व एवं निष्कर्ष/४३

:२:

हिन्दी नाटककार और रस-सिद्धान्त (४५-८६)

१. पूर्वपीठिका : आधुनिक हिन्दी-नाटक का उदय—प्रेरक शक्तियाँ और प्रभाव /४५
प्रसादपूर्व नाटककारों की रस-विषयक अवधारणा /४७
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', राजा लक्ष्मण सिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट, बाबू राधाकृष्ण दास, काशीनाथ खत्री, पं० राधेश्याम कथावाचक, निष्कर्ष।
प्रसाद की रस-चेतना : नाट्य के सन्दर्भ में /५६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

२. प्रसादोत्तर स्वातन्त्र्य-पूर्व नाटककारों की रस-विषयक अवधारणा /६३
जी० पी श्रीवास्तव, सेठ गोविन्द दास, गोविन्दवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, डॉ० रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण 'प्रेमी' उपेन्द्रनाथ 'अश्क', वृन्दावन लाल वर्मा, निष्कर्ष ।

३. स्वातन्त्र्योत्तर नाटककारों की रस-विषयक अवधारणा /७७
जगदीशचन्द्र माथुर, भगवतीचरण वर्मा, मोहन राकेश, विष्णु प्रभाकर, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, ललित सहगल, सुरेन्द्र वर्मा, बृजमोहनशाह, अन्तःसंघर्ष और रस, व्यंग्य और रस, निष्कर्ष ।

:३:

प्रसादोत्तर स्वातन्त्र्य-पूर्व हिन्दी-नाटकों में रस-विधान (८७-१५६)

काल विभाजन का औचित्य/८७

महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि नाटकों की रस-दृष्टि से व्यावहारिक समीक्षा /९२

शिवा-साधना	:	हरिकृष्ण प्रेमी (९२)
जय-पराजय	:	उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (१०२)
छठा बेटा	:	उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (१११)
वफ़ाती चाचा	:	रामनरेश त्रिपाठी (१२०)
कमला	:	उदयशंकर भट्ट (१२५)
अन्तःपुर का छिद्र	:	गोविन्दवल्लभ पंत (१२९)
शशिगुप्त	:	सेठ गोविन्द दास(१३६)
अन्नदाता माधव महाराज महान	:	पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (१४४)
राखी की लाज	:	वृन्दावनलाल वर्मा (१४७)
बाँस की फाँस	:	वृन्दावनलाल वर्मा (१५१)

निष्कर्ष (१५६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

१ | रस-सिद्धान्त और नाटक

१. रस-सिद्धान्त का मूल प्रयोग-क्षेत्र : नाटक

रस-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यन्त प्राचीन और प्रतिष्ठित सिद्धान्त है। यह भारतीय साहित्यशास्त्र का मेरुदण्ड ही नहीं, उसकी महत्तम उपलब्धि भी है। यह सिद्धान्त एक ओर जहाँ भारतीय मेधा के उत्कर्ष और भारतीय चिन्तकों के मानव-मन-सम्बन्धी गहन अनुशीलन का परिचायक है, वहाँ दूसरी ओर भारतीय आचार्यों की सौंदर्य-शास्त्र-विषयक धारणाओं का सार-सर्वस्व भी है।

उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर रस-सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय भरत मुनि को प्राप्त है, किन्तु ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भरत मुनि से पहले इस सिद्धान्त का पर्याप्त विकास हो चुका था। भरत ने जिस आस्था के साथ और जितने व्यवस्थित रूप में रस का विवेचन किया है उससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि भरत-पूर्ववर्ती प्राचीन आचार्य रस और उसके भेदोपभेदों से अपरिचित नहीं थे—भरत से पहले रसवाद का, विशेषकर नाट्य-सम्बद्ध रसवाद का, निश्चय ही विकास हो चुका था। भरत ने स्वयं स्थान-स्थान पर अपनेकथ न की पुष्टि के लिए अथवा अपने कथन के पूरक-रूप में अनेक आर्या और अनुष्टुप् छन्दों को उद्धृत किया है। अनुमान लगाया जा सकता है कि ये छन्द या तो रस-विषयक किसी अज्ञात कृति से लिए गए होंगे या श्रुति परम्परा से चले आ रहे होंगे।[1] 'अभिनव-भारती' के रचयिता और नाट्यशास्त्र के प्रमुख व्याख्याता आचार्य अभिनवगुप्त ने इस परम्परा का स्पष्टतः उल्लेख किया है।[2] भरत-पूर्ववर्ती रसवादी आचायों में सदाशिव, ब्रह्म, तण्डु, वासुकि, नारद, भरतवृद्ध, आदिभरत, शौद्धोदनि, शिलालिन, कृशाश्व, नन्दि, नन्दिकेश्वर, द्रुहिण, कोहल आदि के नामों का उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ

---

1. History of Sanskrit Poetics, Vol. II, S. K. De, pp. 17-18

२. ता एतां ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिता।
—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ६००

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

आचार्यों का नाम स्वयं भरत मुनि ने लिया है और कुछ का उल्लेख राजशेखर, शारदा-तनय, केशवमिश्र आदि ने किया है । 'काव्य-मीमांसा' के प्रणेता आचार्य राजशेखर ने 'रसाधिकरण' के प्रवर्तक-रूप में नन्दिकेश्वर का उल्लेख किया है ।[१] नन्दिकेश्वर-सम्बद्ध रस-परम्परा के अतिक्ति इस विषय पर उनका ग्रन्थ अथवा रस-विषयक मत भी आज उपलब्ध नहीं है । नदिकेश्वर के ग्रन्थ के अभाव में भरत ही रस-सम्प्रदाय के प्रथम प्रतिष्ठित आचार्य कहे जा सकते हैं ।[२] यों, रस-सिद्धान्त की प्राचीन परम्परा की दृष्टि से भरत मुनि ने ब्रह्मा को[३] तथा केशव मिश्र ने शौद्धोदनि को[४] महत्त्व दिया है । भरत के मतानुसार उनके द्वारा विवेचित आठ नाट्य-रसों—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत का आख्यान द्रुहिण (ब्रह्मा) ने किया था ।[५] डॉ० वी० राघवन का मत है कि भरत द्वारा ब्रह्मन् (ब्रह्मा) के नामोल्लेख को और इस कथन को कि उन्हें आठ रस परम्परया द्रुहिण (ब्रह्मा) से प्राप्त हुए हैं, विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता । इतना अवश्य है कि इससे 'नाट्यशास्त्र' की पौराणिक पृष्ठभूमि को समझकर कुछ तथ्यों को खोजा जा सकता है ।[६] इस पौराणिक आख्यान से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भरत मुनि के समय तक नाट्य पर काफ़ी कार्य हो चुका था और इसी के सन्दर्भ में रस और उसके संख्यान पर भी विचार किया गया था ।

'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि ने रस को नाट्य की केन्द्रीय धुरी माना है । उनकी दृष्टि में रस के बिना कोई भी अर्थ (नाट्यार्थ) प्रवर्तित नहीं हो सकता ।[७] रस-सिद्धान्त का मूल प्रयोग-क्षेत्र वस्तुतः नाटक ही है । भरत ने इसी दृष्टि से नाट्य के सन्दर्भ में रस का विवेचन किया है । वस्तुतः नाट्य समग्र त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन है ।[८]

---

१. '''रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः । दोषाधिकरणं धिषणः । गुणौपादादिकमुपमन्युः । औपनिषदिकं कुचमारः इति । —हिन्दी काव्यमीमांसा, प्रथमोऽध्यायः (शास्त्रसंग्रहः), पृ० १-२

२. (क) भारतीय साहित्य शास्त्र (दूसरा भाग), पं० बलदेव उपाध्याय. पृ० १७

(ख) नवीन शोध के अनुसार नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरत कोई एक आचार्य न होकर भरत जाति के अनेक व्यक्ति थे, 'पर काल-प्रवाह में जनमानस की भावना में भरतमुनि का एक विशिष्ट व्यक्तित्व मूर्तिमान हो उठा । जिसे ही नाट्यशास्त्र के प्रणयन और प्रयोग का श्रेय प्राप्त हो गया है ।'

—भरत और भारतीय नाट्यकला, डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, पृ० १३

३. नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् । —नाट्यशास्त्र, १।१

४. अलंकार विद्यासूत्रकारो भगवांशौद्धोदनिःपरमकारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्तयिष्यन्प्रथमं काव्यस्वरूपमाह। —अलंकारशेखर, प्रथमो मरीचिः, पृ० २

५. एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना । —नाट्यशास्त्र, ६।१६

6. The mention of Brahman may after all rafer only to the legendary background of the Natya-Sastre. —The Number of Rasa-s, p. 2.

७. न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते । —नाट्यशास्त्र (सं० मनमोहन घोष), भा० १, षष्ठ अ०, पृ० ८२

८. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् । —वही, १।१०६, पृ० १०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

वह अनेकविध भावों से सम्पन्न है ।[1] स्पष्टतः रस-भाव-हीन नाट्य की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि भरत की दृष्टि में भाव के विना रस की स्थिति सम्भव नहीं और भाव रसविहीन नहीं हो सकता । अभिनय में उनकी सिद्धि पारस्परिक है ।[2] आशय यह कि नाट्य-तत्त्वों में रस सर्वप्रमुख है, साथ ही अन्य नाट्यांगों का नियन्ता भी । पाठ्य,[3] अभिनय[4] और संगीत[5] की रसानुकूलता का भरत ने सविस्तर प्रतिपादन किया है। नाट्य दृश्य-काव्य है अतः उसमें दृश्यत्व और काव्यत्व की एकतानता (समन्विति) अनिवार्य है । सूत्रधार की उत्तम सिद्धि का रहस्य रस और भावों की सम्यक् व्यवस्था में निहित है । इसी प्रकार प्रेक्षकों की सिद्धि भी नाना प्रकार के भावों और रसों पर निर्भर करती है । नाट्य का उपदेश नीरस न होकर सरस और भाव-सिक्त होता है ।[6] कहने की आवश्यकता नहीं कि भरत के 'नाट्यशास्त्र' में सभी नाट्य-प्रसंग और नाट्यांग रस-सम्बद्ध हैं । चूँकि भरत का रस-विवेचन नाट्य-सम्बद्ध है, संभवतः इसी कारण राजशेखर ने उन्हें रस-प्रवर्त्तक के रूप में महत्त्व न देकर 'रूपक-निरूपक' का श्रेय दिया है ।[7] नाट्य के सन्दर्भ में भरत ने रस को इतना महत्त्व दिया कि नाट्य और रस प्रायः अभिन्न हो गए और भरत के प्रख्यात टीकाकार अभिनवगुप्त को जैसे यह लिखने पर विवश हो जाना पड़ा—तेन रस एव नाट्यम् ।[8]

भरत परवर्ती अलंकारवादी आचार्यों द्वारा रस-सिद्धान्त के विरुद्ध यह स्थापित करने का प्रयत्न किया गया कि रसभावादि को रसवदादि अलंकारों में ही समाहित करना चाहिए,[9] रस का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना ठीक नहीं । भामह, दण्डी और उद्भट द्वारा रसभावादि को रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत मानने का एक प्रमुख कारण यह है कि ये आचार्य यह मानकर चले कि भरत ने रस का विवेचन नाट्य के सन्दर्भ में

---

१. नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ —वही, १।१११, पृ० १०

२. न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥ —वही, ६।३६, पृ० ८३

३. द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र, ७।१०९, १११, ११४, ११५, ११८, ११९, १६।१२८, १७; १०२-१०९ ११२, ११४-१५०; २२।३०० आदि

४. द्रष्टव्य—वही, अष्टम, नवम, दशम अध्याय आदि

५. द्रष्टव्य—वही २९।१-३; ३२।३१६-३२३ आदि

६. एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यं लोके भविष्यति ॥ —नाट्यशास्त्र, १।११४

७. ......रूपकनिरूपणीयं भरतः ।
—हिन्दी काव्यमीमांसा, प्रथमोऽध्यायः (शास्त्रसंग्रह), पृ० १

८. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४२८

९. (क) काव्यालंकार, ३।५-७
(ख) काव्यादर्श, २।२७५-९४
(ग) काव्यालंकारसारसंग्रह, ४।२, ३,५,७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

किया है, श्रव्य-काव्य के सन्दर्भ में नहीं। फलतः उनकी धारणा यह बनी कि रस-सिद्धि नाटक में ही सम्भव है। काव्य में रस-सिद्धि न तो अपेक्षित है, न संभावित ही। वस्तुतः 'अलंकार-संप्रदाय का जन्म ही यह मानकर हुआ कि रस का सम्बन्ध नाट्य से है, जहाँ विभाव, अनुभाव आदि के प्रत्यक्ष उपस्थापन से रस की सिद्धि सहज सम्भव है। इसी तर्क के आधार पर शब्दार्थ-रूप काव्य से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं माना गया।'[1] 'नाट्यशास्त्र' में नाटक के साथ रस का जो गहरा सम्बन्ध स्थापित किया गया और जिस विस्तार के साथ नाट्य-रस की चर्चा की गई उसका फल यह हुआ कि दृश्य और श्रव्य काव्यों के बीच एक खाई पैदा हो गई और दोनों के शास्त्र भी अलग-अलग हो गए। इस ओर संकेत करते हुए डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने ठीक ही लिखा है कि 'व्यापक रूप में काव्यशास्त्र होकर भी दृश्य-काव्य का शास्त्र 'नाट्यशास्त्र' तथा श्रव्य-काव्य का शास्त्र 'अलंकार-शास्त्र' अथवा 'काव्य-शास्त्र' कहलाया। दृश्य तथा श्रव्य-काव्य के बीच के इस अन्तर को शास्त्रकर्त्ताओं ने इतनी सजगता से अपनाया कि 'नाट्यशास्त्र' में विस्तृत रूप से प्रतिपादित तथा केन्द्र-बिन्दु के रूप में गृहीत रस की चर्चा ही श्रव्य-काव्यशास्त्र के प्रवर्त्तनकर्ताओं ने नहीं की या की भी तो इतने संकेतात्मक रूप में कि वह या तो उपेक्षणीय बना रहे या उनकी विचारधारा में ही सिन्धु में बिन्दु के सदृश सिमट कर रह जाय।'[2] स्पष्टतः दृश्य-काव्य के सन्दर्भ में रस को जो महत्त्व दिया गया, श्रव्य-काव्य के सन्दर्भ में वह न मिल सका, और यदि मिला भी तो काफी प्रयत्नों के पश्चात्, बहुत बाद में। अपने मूल रूप में तो रस नाट्य की ही वस्तु थी।

जो सिद्धान्त नाट्य से इतनी घनिष्ठता से सम्बद्ध है, उसके परम्परागत स्वरूप के साथ अद्यतन विकास को भी हृदयंगम कर लेना असमीचीन न होगा।

२. रस-सिद्धान्त : परंपरागत एवं अभिनव व्याख्या

रस और रसावयव

रस-विवेचन का मूलाधार भरत मुनि का यह सुप्रसिद्ध सूत्र है—तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः[3] अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत के इस सूत्र में रस की निष्पत्ति का ही नहीं, परिभाषा का भी आख्यान है। आचार्य अभिनव गुप्त ने भरत मुनि के इस सूत्र को रस-लक्षण-सूत्र माना है।[4] अपने परिनिष्ठित रूप में रस विभावादि से परिपुष्ट स्थायी भाव की निर्विघ्न प्रतीति (अनुभूति) है। रस के परिनिष्ठत रूप को हृदयंगम

---

१. रस-सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ३२३

२ काव्य-शास्त्र, प्रधान संपादक : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त' शीर्षक लेख, पृ० ४८

३. नाट्यशास्त्र (सं० डॉ० रघुवंश), पृ० २७४

४. एवं ऋहेतुमभिधाय रसविषय लक्षणसूत्रमाह। —हिन्दी अभिनवभारती पृ० ४४२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

करने के लिए स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव को समझना अनिवार्य है।

स्थायी भाव उन भावों का नाम है जो सहृदय के चित में वासना रूप से सदैव विद्यमान रहते हैं। इन भावों को कोई भी अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव दबाने की क्षमता नहीं रखता। ये आस्वाद का अंकुरकंद हैं।[1] संस्कृत के अधिकतर व्यवस्थापक और प्रतिष्ठित आचार्यों[2] ने स्थायी भावों की रस-परिणति का समर्थन किया है। स्थायी भाव विभावादि द्वारा चर्व्यमाणावस्था में पहुँचकर रस बन जाते हैं। इन आचार्यों के अनुसार रसों की संख्या स्थायी भावों की संख्या पर निर्भर है और चूँकि स्थायी भाव आठ या नौ हैं, अतः रस भी आठ या नौ ही हैं। व्यभिचारी भावों से स्थायी भावों का पार्थक्य स्थिरत्व, परिपुष्टत्व, सर्वजनसुलभत्व, जन्मजात वासना-संस्कारत्व, पुमर्थोपयोगित्व, उत्कट आस्वाद्यत्व, आप्रबन्धव्याप्तित्व आदि के आधार पर किया जा सकता है।

भाव के उद्‌बोधक और उद्दीपक कारण विभाव कहलाते हैं। विभाव के आलंबन और उद्दीपन नामक दो भेद हैं।[3] काव्य-नाटकादि में जिन पात्रों के आलंबन से सामाजिक के रति, उत्साह आदि भाव रस-रूप में निष्पन्न होते हैं, उन्हें आलंबन विभाव कहा जाता है।[4] आलंबन विभाव को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—विषय और आश्रय। विषय का एक अन्य नाम आलंबन भी है। जिस पात्र के प्रति किसी के भाव जागरित होते हैं, उसे विषय या आलंबन कहते हैं और जिस पात्र में भाव जागरित होते हैं, वह आश्रय कहलाता है।

जो रस को उद्दीप्त करते हैं वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।[5] उद्दीपन विभाव के भी दो भेद हैं—(१) आलंबनगत चेष्टाएँ आदि और (२) देशकाल आदि अर्थात् बाह्य वातावरण।[6] यहाँ आलंबन का अभिप्राय केवल विषय से ही है, आश्रय और विषय दोनों से नहीं।

अनुभाव शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है—(१) भावमनुभवतीति अनुभावः (जो भाव के पीछे होता है) और (२) भावमनुभावयतीति अनुभावः (जो भाव का अनुभव कराता है)। विश्वनाथ के मत में अपने-अपने कारणों (आलंबन तथा उद्दीपन विभावों) से हृदय में जागरित रत्यादि भावों को बाह्यतः प्रकाशित करने वाला

---

१. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, ३।१७४
२. द्रष्टव्य : भरत, अभिनवगुप्त, धनंजय, मम्मट, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि के मत।
३. आलम्बनोद्दीपनात्मा विभावः कारणं द्विधा। —चन्द्रालोक, ६।१
४. आलम्बनो नायिकादिस्तमालम्ब्य रसोद्‌गमात्। —साहित्यदर्पण, ३।२९
५. उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। —वही, ३३।१३१
६. आलंबनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा। —वही, ३।१३२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कार्य 'अनुभाव' कहलाता है ।[1] अनुभाव के आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक ये चार रूप हैं । इनमें से आंगिक, वाचिक और आहार्य को सयत्नज अनुभाव कहा गया है, क्योंकि इनके निर्वहण में आश्रय को प्रयत्न करना पड़ता है । स्वतः उद्भूत होने से सात्त्विक भाव अयत्नज कहलाते हैं । इनकी संख्या आठ मानी गयी है—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय । वत्सल भक्ति रस के सन्दर्भ में रूप गोस्वामी ने इन आठ सात्त्विक भावों के अतिरिक्त 'स्तन्यस्राव' नामक नवम सात्त्विक भाव को भी मान्यता दी है ।[2]

संचारी भाव उन मनोविकारों का नाम है, जो आश्रय और विषय के मन में उन्मग्न और निमग्न होते रहते हैं । संचारी भाव स्थायी भावों के सहकारी कारण हैं । संचारी भावों की संख्या तैंतीस बताई गयी है,[3] जो इयत्ता की द्योतक न होकर उपलक्षण मात्र है । संचारी भावों को प्रत्येक स्थायी भाव के साथ विशेष रूप से अभिमुख होकर चलने के कारण व्यभिचारी भावों की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है ।[4]

रस के उपर्युक्त उपादानों पर दृष्टिपात करने से इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं रह जाता कि इनका उल्लेख और विवेचन-विश्लेषण मूलतः रंग-दृष्टि से किया गया है । इनकी व्याख्या करते समय आद्याचार्य भरत ने नाट्य-प्रदर्शन को पूरी तरह ध्यान में रखा है और उसी सन्दर्भ में रसावयवों का विवेचन किया है । वे अत्यन्त सजगतापूर्वक स्थान-स्थान पर इस बात की चर्चा करते हैं कि अमुक रस का अभिनय अमुक अनुभावों के द्वारा करना चाहिए और अमुक का अमुक के द्वारा ।[5] कालान्तर में जब रस का सम्बन्ध श्रव्य-काव्य से भी स्थापित हो गया तो यह संदर्भ गौण पड़ गया और रसावयवों की व्याख्या इस ढंग से की जाने लगी कि नाट्य पर बल न रहे ।

वस्तुतः संस्कृत काव्य-शास्त्र में 'रस' का प्रयोग कहीं नाट्य-रस और कहीं काव्य-रस के रूप में हुआ है । काव्य-रस का प्रयोग भी वहाँ दो रूपों में प्रचलित है—प्रथम तो भावों की उपचितावस्था में शुद्ध रस रूप और द्वितीय अनुपचितावस्था में भावों की रस-रूप में स्वीकृति । काव्य-रस के इन दोनों प्रकारों में से प्रथम प्रकार को ही व्यावहारिक सुविधा और व्यवस्था की दृष्टि से काव्य-रस और द्वितीय प्रकार को भाव-रस कहा जा सकता है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि भरत द्वारा प्रवर्तित नाट्य-रस की

---

१. उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥ —साहित्यदर्पण ३।१३३

२. नवात्र सात्त्विकाः स्तन्यस्रावः स्तम्भादयश्च ते ।
—भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभागे चतुर्थी वत्सलभक्ति रस लहरी, पृ० ४०३

३. निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न विबोध, अवमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क ।

४. विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः । —साहित्यदर्पण, ३।१४०

५. विस्तार के लिए देखिए : 'नाट्यशास्त्र', ६।३९-८२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

परम्परा का प्रचार-प्रसार और विवेचन-विश्लेषण करने वाले आचार्यों में उद्भट, भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय, धनंजय-धनिक, शिंगभूपाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। काव्य-रस के रूप में रस की चर्चा, अलंकारों के परिप्रेक्ष्य में ही सही, सबसे पहले भामह और दण्डी ने की, किन्तु 'काव्ये नव रसाः स्मृताः'[1] के रूप में उसका स्पष्ट उद्घोष रुद्रभट्ट ने किया। श्रव्य काव्य के सन्दर्भ में रस की सांगोपांग प्रतिष्ठा और विवेचन-विश्लेषण का श्रेय जहाँ आनन्दवर्धन को दिया जा सकता है, वहाँ इसके पल्लवन-पुष्पन और विकास का भोज, मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि को। अब यहाँ नाट्य-रस और काव्य-रस के साम्य-वैषम्य पर विचार कर लेना अयुक्तिमत् न होगा।

नाट्य-रस : काव्य-रस : भाव-रस

ऊपर कहा जा चुका है कि 'नाट्यशास्त्र' में रस की प्रतिष्ठा नाट्य साहित्य के सन्दर्भ में हुई है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि भरत का रस-विवेचन नाट्य-रस का ही नहीं, काव्य-रस का भी मूलाधार है। माध्यम, ऐन्द्रिय-बोध, रचना-विधि, प्रत्यक्षता, चित्रवत्ता आदि के आधार पर नाट्य-रस का काव्य-रस से अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। काव्य-रस की निष्पत्ति में कवि साधन-रूप में भाषा का ही आश्रय ग्रहण कर सकता है, जबकि नाट्य-रस की निष्पत्ति में भाषा के अतिरिक्त पात्रों के हाव-भाव वेश-भूषा, प्रवृत्ति आदि अनन्त साधन हैं। श्रव्य काव्य में अनुभावादिकों की योजना में उत्तरोत्तर अपकर्ष तथा नाटकों में इनके महत्त्व का यथावत् अक्षुण्ण रहना काव्य और नाट्य-रस के पार्थक्य का ही सूचक है। काव्य-रस में रस-प्रतीति का माध्यम केवल श्रवणेन्द्रिय है (चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से भाषा-प्रतीकों द्वारा रस की प्रतीति में तथा श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से ध्वनि-संकेतों द्वारा रस-प्रतीति में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है, क्योंकि लिपि के अन्तर्गत भाषा-प्रतीक वाणी द्वारा प्रयुक्त ध्वनि-संकेतों की चाक्षुष अभिव्यक्ति है। भाषा की अधुनातन परिभाषा—'भाषा यादृच्छिक ध्वनि-संकेतों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा एक समाज के सदस्य परस्पर सम्पर्क स्थापित करते हैं।'[2]—हमारे उक्त कथन को प्रमाणित करती है।) जबकि नाट्य-रस में रस-प्रतीति का माध्यम श्रवणेन्द्रिय के अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी है। रंगमंच पर पात्रों की मुख-मुद्राएँ ही नहीं, उद्दीपन के अन्तर्गत प्राकृतिक दृश्यों की संयोजना और आलंबन के प्रत्यक्ष क्रिया-कलाप भी नाट्य-रस को एक अतिरिक्त मूल्यवत्ता और रसनीयता प्रदान करते हैं। नाट्य-रस और काव्य-रस की रचना-विधि में भी अन्तर है। काव्य में कवि भाषा के

---

१. शृंगारतिलक, १।९

2. A Language is a system of arbitrary vocal Symbols by means of which a social group Cooperates.
—Outlines of Linguistic Analysis, Bernard Bloch and George L. Trager, p. 5

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

द्वारा कल्पना के माध्यम से इस भौतिक जगत् को छोड़कर विलक्षण जगत् में पहुँच जाता है, जबकि नाट्य-रस के प्रयोग में सूत्रधार नाटककार की इस भाषा-शक्ति और कल्पना-शक्ति का उपयोग तो करता ही है, रंगसज्जा, मंचकौशल और आधुनिक युग में तो ध्वनि और प्रकाश की व्यवस्था आदि अनेक प्राचीन और नवीन कौशलों से भी इस रस को अधिक रसनीय और आह्लादमय रूप में सहृदय के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है। फलतः काव्य-रस के आस्वादन के लिए जहाँ सहृदय की कल्पना-शक्ति, काव्याभ्यासी प्रवृत्ति और संवेदनशीलता की अधिक अपेक्षा रहती है, वहाँ नाट्य-रस की प्रत्यक्षता और चित्रवत्ता संवेदनशील एवं प्रवुद्ध सहृदय को तो आनन्द की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित कर ही देती है, सामान्य दर्शक को भी रसास्वाद और आह्लाद-ग्रहण में सहायता प्रदान करती है। नाट्य-रस के संदर्भ में भरत द्वारा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के विवेचन के पीछे यही दृष्टिकोण था। काव्य-रस में विभावादि समग्रतः हो भी सकते हैं और नहीं भी। उनमें से किसी एक के रहने पर शेष रस-सामग्री का आक्षेप काव्य-रस में हो सकता है। नाट्य-रस और काव्य-रस इसी बिन्दु पर अलग हो जाते हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में रस शब्द का प्रयोग कहीं काव्यानन्द के अर्थ में, कहीं रस-ध्वनि के अर्थ में, कहीं विभावादि से परिपुष्ट स्थायी भाव के अर्थ में और कहीं स्थायी भाव के अर्थ में हुआ है।[1] रस के अतिरिक्त अन्य रसादि अर्थात् रसाभास, भाव, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि और भाव-शवलता से प्राप्त आनन्द या व्यापक रूप में भाव-संस्पर्श मात्र से प्राप्त आनन्द भाव-कोटि का आनन्द है। दूसरे शब्दों में, इसे भाव-रस कहा जा सकता है। काव्यानन्द की इन स्थितियों में पूर्ण घनानन्द या अखण्ड रस की संप्राप्ति नहीं होती। रस के ये प्रयोग वस्तुतः औपचारिक ही हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में रस का जो रूप व्यवस्था-रूप में मान्य है, वह पूर्ण घनानन्द अखण्ड रस का है, जिसके अन्तर्गत विभावादि से परिपुष्ट स्थायी भावों की समंजित स्थिति आती है। यही रस का पारिभाषिक रूप है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य और रस

यहाँ यह भी विचारणीय है कि आधुनिक परिप्रेक्ष्य में 'रस' को किस रूप में, किस सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है ? आज 'रस' शब्द के परिनिष्ठित पारिभाषिक अर्थ-ग्रहण मात्र से ही काम न चलेगा, उसे उसके व्यापक रूप में ग्रहण कर आधुनिक युग के व्यापक संदर्भ में प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है; तभी वह आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन का मान्य निकष बन सकेगा। इस ओर संकेत करते हुए डॉ० भगीरथ मिश्र ने लिखा है : 'रस' की धारणा को स्पष्ट करने का कुछ इतना बौद्धिक

---

१. दे० रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १००-१०१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रयास हुआ है कि हम उसको अत्यन्त शास्त्रीय, टेक्नीकल और दुरूह वस्तु समझने लगे हैं। इसमें हम सन्देह नहीं करते कि रस को लेकर गंभीर विवेचना विद्वानों ने की है और उस सबका शास्त्रीय महत्त्व है, परन्तु साधारण जीवन के लिए रस की ये सब व्याख्याएँ 'मधवा मूल विडौजा टीका' की कहावत चरितार्थ करती हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि जो रस जीवन का आनन्द है, जिसकी हमें आत्मा के विकास, सामूहिक उल्लास, व्यापक संवेदनशीलता के प्रसार और मानसिक संस्कार के लिए अनिवार्य आवश्यकता रही है, वह एक दुरूह, शास्त्रीय और व्यवहार से दूर की वस्तु-सा जान पड़ता है।'[1] वस्तुतः संस्कृत-काव्य-शास्त्र के मान्य आचार्यों ने रस के पारिभाषिक रूप के अतिरिक्त उसके व्यापक रूप का भी आख्यान किया है। अपने व्यापक अर्थ में रस काव्यानन्द का--काव्य-सौन्दर्यानुभूति का पर्याय है। वह काव्यानन्द भावस्पर्शयुक्त किसी भी प्रकार के काव्य से प्राप्त हो सकता है। उसके लिए रस के समस्त अवयवों-समग्र काव्य-सामग्री का होना आवश्यक नहीं है। किसी एक अवयव से, अनुभाव-वर्णन से ही, कभी-कभी तो चित्तद्रुति और मात्र गुणात्मकता से ही काव्य सरस हो जाता है। प्राचीन आचार्यों ने रस के अतिरिक्त रसादि को भी रस की परिधि में स्वीकार कर प्रकारान्तर से रस की व्यापकता का ही व्याख्यान किया है—यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि काव्यानन्द के उपर्युक्त विविध स्तरों को रस की परिधि में स्वीकार करने पर भी आचार्यों ने वस्तुतः रस के पारिभाषिक रूप का ही गम्भीरतम दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। यों, भाव-रस की दृष्टि से सभी भावों को रस माना जा सकता है और उस स्थिति में रसों की संख्या अनन्त हो सकती है, क्योंकि मनुष्य के अथाह मानस में उठने वाली भाव लहरियाँ असंख्य हैं। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस विचारणा को स्वीकृति देता है। भावों की संख्या के अनन्त होने के कारण उनका परिगणन असंभव है—और जब भाव अनन्त हैं तो रस भी अनन्त हैं; अतः रसों के भेदोपभेदों की गणना संभव ही नहीं। यह अवधारणा 'सर्वभावरसवाद' या 'रसानन्त्यवाद' के नाम से अभिहित की जा सकती है।[2] 'सर्वभावरसवाद' या 'रसानन्त्यवाद' के समर्थक आचार्यों में लोल्लट, रुद्रट, नभिसाधु, भोजराज आदि के नाम परिगणित किये जा सकते हैं। हिन्दी के मध्ययुगीन भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'भाव-भेद रस-भेद अपारा' के द्वारा इसी धारणा को व्यक्त किया है। रस-सिद्धान्त की दृष्टि से आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए इन सभी अवधारणाओं की जानकारी और इनका प्रयोग आवश्यक है। अपने व्यापक रूप में रस-सिद्धान्त की शक्ति अपरिसीम है। इस ओर संकेत करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है—'शास्त्र-रूढ़ियों से मुक्त रस-सिद्धांत अपने व्यापक एवं विकासशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है, जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के सर्जनात्मक साहित्य

---

१. काव्यशास्त्र, पृ० २५२

२ विस्तार के लिए देखिए : लेखक का प्रबन्ध—'रस-संख्या—काव्यशास्त्रीय विश्लेषण'

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

का, सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है।"[1]

आधुनिक साहित्य के संदर्भ में, रस के व्यापक अर्थ-ग्रहण के महत्त्व को अन्य अनेक अनुसंधित्सुओं ने भी स्वीकार किया है। 'संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन' करने वाले डॉ० रघुवीर शरण का निष्कर्ष है कि—"पृथक्-पृथक् रूप में विभाव, अनुभाव, संचारी (व्यभिचारी) भाव एवं स्थायी भाव रस-सामग्री ही हैं, रस नहीं हैं। अकेले 'संचारी भाव या भावों' का भी विभाव एवं अनुभावों की सहायता से भावन कराया जा सकता है और उससे भी सहृदय को काव्यानन्द प्राप्त होता है, चाहे वह रस-कोटि का न हो, भाव-ध्वनि प्रकार का ही हो। इसी स्थिति को दृष्टि में रखकर रसाचार्य संचारी (व्यभिचारी) भावों का स्वतन्त्र एवं मिश्रित रूप में, विभावों और अनुभावों की सहायता से, वर्णन करते रहे हैं। ऐसे स्थलों में काव्यानन्द में वैविध्य और वैचित्र्य तो होता ही है, उसकी प्रकार संख्या भी अगणित होती है। आधुनिक काल के सीमित, संकुल, जटिल एवं चटुल जीवन में कवि या नाटककार ऐसे ही काव्य की, संचारी (व्यभिचारी) भावों की भावाभिव्यक्ति की रचना करते देखे जाते हैं। उन्हें तथा सामयिकों को पूर्ण रस-कोटि के काव्य के रचने और आस्वादन करने का अवकाश नहीं है। ऐसी स्थिति में संचारी (व्यभिचारी) भावों पर अवलंबित 'भाव-ध्वनि' प्रकार के काव्यानन्द का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।"[2] निस्संदेह आज रस को उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किये बिना काम नहीं चल सकता।

भरत ने रस-स्वरूप का जो विवेचन किया है, उससे यह निश्चित हो जाता है कि वे रस को विषयगत स्वीकार करते हैं। उनकी इस मान्यता को अस्वीकार कर अभिनव गुप्त ने रस को विषयिगत माना है। अधिकतर परवर्ती आचार्यों ने भी उन्हीं के मन्तव्य को स्वीकार किया है। रस-निष्पत्ति के विषय में यद्यपि आचार्यों के मतों में विभिन्नता है तथापि वे मत एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक ही हैं। वे रसास्वादन की समस्या के विभिन्न पक्षों का समाधान उपस्थित करते हैं।[3] भरत सूत्र की व्याख्या करते हुए लोल्लट ने अनुसंधान-क्रिया तथा नट द्वारा रस (भाव) की अनुभूति की चर्चा कर, शंकुक ने नाट्य (काव्य) गत भाव और प्रत्यक्ष भाव का तथा मूलपात्र और कवि-निबद्ध पात्र का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रत्यक्ष अनुभव से काव्यानुभूति को विलक्षण बताकर एवं भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार की परिकल्पना और साधारणीकरण-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन कर रस-सम्प्रदाय के इतिहास में युगान्त उपस्थित किया। उनके अनुसार साधारणीकरण रसास्वाद की पूर्वपीठिका तैयार करता है। इसी संदर्भ में रसत्व के अधिवास का भी विचार किया गया, जिसका सार यह है कि रस के भोक्ता कवि और सहृदय दोनों ही हैं और एक सीमा तक नट भी रसास्वादन

---

१. रस-सिद्धान्त, पृ० ३५६
२. संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन, डॉ० रघुवीर शरण, पृ० २८६
३. देखिए—नया साहित्य : नये प्रश्न, नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ११८-१२३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

करता है।

भरतोक्त रसों की संख्या आठ है या नौ—यह विवादास्पद है। जो आचार्य यह मानते हैं कि भरत ने शान्त सहित नौ रसों का आख्यान किया है, उनमें अभिनवगुप्त अग्रणी हैं। अभिनवगुप्त ने शान्त रस के भरत-प्रोक्त होने के पक्ष में जो तर्क दिये हैं, उनका खण्डन करते हुए अधिकतर आचार्यों ने यही मत व्यक्त किया है कि शान्त भरतोल्लिखित रस नहीं है। नवम रस के रूप में शान्त का सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में उपलब्ध होता है। अभिनवगुप्त के विवेचन के फलस्वरूप आगे चलकर शान्त को भी एक स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार कर लिया गया, किन्तु इसके समर्थक आचार्यों के दो वर्ग हो गये—जहाँ धनंजय, धनिक, शारदातनय आदि ने इसे केवल श्रव्य काव्योपयुक्त माना, वहाँ उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, भोजराज, अग्निपुराणकार, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि अन्य अनक आचार्यों ने श्रव्य एवं दृश्य दोनों ही काव्यों में इसकी सत्ता स्वीकार की है, स्पष्टतः अभिनव द्वारा शान्त रस की प्रतिष्ठा के उपरान्त श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत के साथ शान्त को भी नवम रस के रूप में संस्कृत के अधिकतर प्रतिष्ठित और व्यवस्थापक आचार्यों ने स्वीकृति दे दी[1]—परिणामतः संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रायः नवरसवाद की परम्परा का ही अनुमोदन होता रहा।

उपर्युक्त नवरसों के अतिरिक्त रुद्रट, विश्वनाथ और वैष्णव-आचार्यों ने क्रमशः प्रेयान्, वत्सल और भक्ति रसों की स्थापना का गम्भीर कार्य किया, किन्तु संस्कृत के अधिकतर आचार्यों ने इन्हें स्वतन्त्र रस के रूप में मान्यता नहीं दी है। इन रसों के प्रति अधिकतर आचार्यों का दृष्टिकोण या तो अन्तर्भाववादी रहा या फिर वे इनके आस्वाद को 'रस-कोटि' का न मानकर 'भाव-कोटि' का ही मानते रहे। यों, इन रसों की चर्चा किसी-न-किसी रूप में होती अवश्य रही। कालान्तर में, वात्सल्य और भक्ति के प्रचुर साहित्य को दृष्टि में रखकर आधुनिकयुगीन आचार्यों के विवेचन-विश्लेषण के फलस्वरूप वत्सल और भक्ति रस भी प्रायः स्वीकार कर लिये गये और इस प्रकार अब रस एकादशी प्रायः प्रतिष्ठित हो गयी है।

आधुनिकयुगीन परिवर्तित परिवेश, पाश्चात्य चिन्तन के सम्पर्क, आधुनिक काव्य के अपरिमित विस्तार और साहित्य में अनेक नवीन विधाओं के प्रचलन के फलस्वरूप इधर कुछ नये रसों की स्वीकृति के प्रस्ताव भी सामने आये हैं।[2] इनमें प्रकृति और देशभक्ति रस के प्रस्ताव पर्याप्त सबल हैं। आधुनिक साहित्य की भाव-धारा के परिवर्तन को लक्षित कर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकृति रस तथा बाबू गुलाबराय

---

१. विस्तार के लिए देखिए : प्रस्तुत लेखक का प्रबन्ध—रस-संख्या : काव्यशास्त्रीय विश्लेषण, पृ० १०३-१४१

२. द्रष्टव्य -- प्रस्तुत लेखक का ग्रंथ—आधुनिक युग में नवीन रसों की परिकल्पना

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

ने देशभक्ति रस की स्वायत्तता का समर्थन किया है। आचार्य रामचंन्द्र शुक्ल ने प्रकृति रस की संभावनाओं पर पर्याप्त गाम्भीर्य और व्यापकता से विचार किया है।

शुक्लोत्तर रस-चिन्तकों ने भी प्रकृति और देशभक्ति के स्वतन्त्र रसत्व के समर्थक और विरोधी तर्कों पर विचार करते हुए इन दोनों की रसनीयता को किसी-न-किसी रूप में स्वीकृति अवश्य दी है। प्रकृति रस का पूर्ण समर्थन करने वाले हिन्दी समीक्षकों में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार देशभक्ति रस का भक्ति-रस के अन्तर्गत विवेचन-विश्लेषण करने पर भी डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित इसे स्वीकार करने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। डॉ० नगेन्द्र का दृष्टिकोण इन रसों के प्रति यद्यपि अन्तर्भाववादी है तथापि इनकी रसनीयता उन्हें भी मान्य है। प्रस्तुत शोधार्थी की दृष्टि में छायावादी तथा छायावादोत्तर हिन्दी-साहित्य के क्रम-विकास की विशिष्ट उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में प्रेयान्, कार्पण्य, प्रकृति और देशभक्ति रसों की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा अनिवार्य है। इसी दृष्टि से उसने अपने पी-एच० डी० के शोध-प्रबन्ध में भरतोक्त अष्ट रसों के अतिरिक्त शान्त, प्रेयान्, वत्सल, भक्ति, कार्पण्य, प्रकृति और देशभक्ति रसों के स्वतन्त्र रसत्व का समर्थन करते हुए इनके स्वरूप का सांगोपांग विश्लेषण किया है।[1] विस्तार-भय से इन नवीन रसों का स्वरूप हम यहाँ नहीं दे रहे है, पर यथा-स्थान इनके संक्षिप्त स्वरूप का उल्लेख कर दिया गया है।

प्रसादोत्तर नाटकों के विवेचन-विश्लेषण के लिए जहाँ उपर्युक्त पूर्ण-घनानन्द रसों को दृष्टि में रखना अनिवार्य है, वहाँ रस के व्यापक स्वरूप की, जिसका संकेत हम पहले कर चुके हैं, जानकारी भी आवश्यक है। इन दृष्टि-बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में नाटकों के रस-विधान को, रस के गुणात्मक अन्तर के साथ, हृदयंगम करने में कदाचित् ही कोई कठिनाई हो।

३. आस्वादन एवं मूल्यांकन का प्रतिमान

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि 'रस' का सम्बन्ध मात्र आस्वादन से है या वह मूल्यांकन का प्रतिमान भी है? कहना न होगा कि संस्कृत-आचार्यों की रस-परिकल्पना मूलतः काव्यास्वाद से सम्बद्ध होते हुए भी अपनी परिधि में मूल्यांकन की धारणा लेकर चली है। स्पष्ट शब्दों में, रस का सम्बन्ध मात्र काव्य के आस्वादन से ही नहीं, उसके मूल्यांकन से भी है—और इसके प्रमाण संस्कृत के प्रारंभिक रस-चिन्तकों में भी नितान्त स्फुट हैं। न केवल भरत द्वारा, अपितु उनके भी पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा रस-भेदों की स्वीकृति इसका स्पष्ट प्रमाण है। आस्वादन के क्षणों में आस्वादयिता जहाँ कलाकृति के प्रति पूर्णतः समर्पित और तल्लीन होता है, अनुभूति की गहनता में एक अखण्ड आनन्दोपलब्धि में लीन होता है, वहाँ आस्वादन के बाद उसकी विश्लेषात्मिका समीक्षक

---

१. विस्तार के लिए देखिए—'रस-संख्या : काव्यशास्त्रीय विश्लेषण' शीर्षक ग्रन्थ

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

बुद्धि जाग उठती है और तब वह उस आस्वाद या आनन्द को कोई-न-कोई नाम देना चाहता है—किसी-न-किसी रस-भेद से उसे अभिहित करना चाहता है। स्पष्टतः काव्यास्वाद की दृष्टि से रस-सिद्धान्त में जहाँ रस-निष्पत्ति और उससे सम्बद्ध साधारणीकरण-सिद्धान्त का गम्भीर विश्लेषण किया गया है (यों, ये अवधारणाएँ भी एकान्ततः मूल्य-निरपेक्ष नहीं हैं।) वहाँ मूल्यांकन-प्रतिमान के रूप में उसे प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से उसमें रस-भेदों का भी सम्यक् विवेचन-विश्लेषण हुआ है। समीक्षा के व्यावहारिक धरातल पर रस-सिद्धान्त की शक्ति रसों की संख्या पर भी बहुत कुछ अवलम्बित है, और जब-जब भी इस सिद्धान्त की मूल्यांकन-क्षमता पर सन्देह व्यक्त किया गया है तब-तब रसों की परिमित संख्या का ही विरोध किया गया है।

सिद्धान्त-रूप में ही नहीं समीक्षा के व्यावहारिक धरातल पर भी संस्कृत-काव्य में मूल्यांकन के विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण मानदण्ड के रूप में रस की प्रतिष्ठा रही है। टीकाकारों द्वारा कविता अथवा नाटक के मर्म का उद्‌घाटन करते समय रसोल्लेख अथवा रस-विश्लेषण का यत्न इसका स्पष्ट प्रमाण है। मध्यकालीन भारतीय भाषाओं—पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के साहित्य के संदर्भ में भी इसकी सार्थकता और मूल्यवत्ता असंदिग्ध है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी भाषा के आदिकालीन, भक्तिकालीन और रीतिकालीन काव्य में तथा इसी समय के अन्य भारतीय भाषाओं के काव्य के मूल्यांकन में भी रस-सिद्धान्त अपनी गरिमा के उसी चरम बिन्दु पर सुप्रतिष्ठित था। आधुनिककाल में अँगरेज़ी माध्यम से यूरोपीय काव्य-सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त कर तथा विदेशी वैभव के चाकचिक्य से नये काव्यान्दोलनों की बाढ़-सी आ गयी, परिणामतः इन नये आन्दोलनों के उन्नायकों ने रस-सिद्धान्त का विरोध करते हुए इस पर अनेक प्रश्न-चिह्न लगाये हैं।[1] यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि रस की मूल्यांकन-क्षमता पर प्रगतिवादी-प्रयोगवादी समीक्षकों और नयी कविता के समर्थक कवि-आलोचकों ने ही अधिकतर सन्देह व्यक्त किया है। उन नाटककारों या नाट्य-समीक्षकों की संख्या बहुत अधिक नहीं है जो नाट्य-साहित्य के मूल्यांकन में रस की महत्ता का एकान्त निषेध करते हों और नयी कविता के समर्थक कवियों अथवा आलोचकों ने भी रस की मूल्यांकन क्षमता पर जो आक्षेप किये हैं, वे परस्पर विरोधी, भ्रमपूर्ण, एकांगी, सारहीन अथवा अध्ययन की कमी के कारण किये गये हैं,[2] साथ ही, उनसे यह भी ध्वनित है कि रस मूल्यांकन का एक प्रतिमान अवश्य है—भले ही, उनकी दृष्टि में, वह प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में समर्थ और नयी कविता के मूल्यांकन में असमर्थ होने से एकांगी या अपूर्ण हो।

४. नाटक के तत्त्व एवं रस

भारतीय दृष्टि से सामान्यतः वस्तु, नेता और रस तथा पाश्चात्य दृष्टि से वस्तु, पात्र,

---

१. विस्तार के लिए देखिए : प्रस्तुत लेखक का ग्रंथ—नयी कविता और रस-सिद्धान्त

२. विस्तार के लिए देखिए : प्रस्तुत लेखक का ग्रंथ—रस-सिद्‌धांत : आक्षेप और समाधान

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कथोपकथन, देशकाल, भाषाशैली और उद्देश्य की गणना नाट्य-तत्त्वों में की जाती रही है। यों, धनंजय ने 'दशरूपक' में वस्तु, नेता और रस का उल्लेख भेदक आधार के रूप में किया था—वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः,[1] पर हिन्दी-नाट्यालोचक पूर्व-पश्चिम की मान्यताओं में साम्य-स्थापन के उद्देश्य से अथवा भ्रमवश इन्हें नाट्य-तत्त्व भी घोषित करने लगे। 'रूपक रहस्य' में बाबू श्यामसुन्दर दास ने लिखा : 'रूपकों के जो भेद किये गये हैं, वे तीन आधारों पर स्थित हैं, अर्थात् वस्तु, नायक और रस। इन्हीं को रूपकों के तत्त्व भी कहते हैं।'[2] डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भी इन्हें ही नाटक का मुख्य एवं अनिवार्य तत्त्व माना है—

नायक, रस अरु वस्तु बस तत्त्व मुख्य अनिवार्य।
कहते हमारे देश के मान्य नाटकाचार्य ।।[3]

इनका अनुकरण परवर्ती अधिकतर नाट्य-विवेचकों ने भी किया। अधिक-से-अधिक हुआ तो कुछ ने इनके साथ अभिनय तत्त्व का भी समावेश कर लिया; यथा डॉ० भगीरथ मिश्र[4], बाबू गुलाबराय[5] आदि ने।

जहाँ तक भरतमुनि का प्रश्न हैं, उन्होंने नाट्य के एकादश अंगों—रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रंग का संग्रह[6] किया है। भरत के इस कथन की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त ने लिखा है कि अभिनयत्रय, गीत और आतोद्य ये पाँच नाट्य के अंग हैं। इस श्लोक के द्वारा भरत ने कोहल के मत से एकादश नाट्यांगों का उल्लेख किया है, किन्तु यह उनका अपना मत नहीं है : अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पंचांगं नाट्यम्। अनेन तु श्लोकेन कोहल(स्य) मतेनेकादशांगत्वमुच्यते। न तु भरते (तस्य)।[7] अन्यत्र नाट्य नामक पंचम वेद के चार अंगों का उल्लेख भरत ने इन शब्दों में किया है—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतामेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।[8]

आद्याचार्य के उक्त कथन के आधार पर डॉ० देवर्षि सनाढ्य ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भरत के अनुसार पाठ्य, गीत, अभिनय और रस नाट्य के ये चार तत्त्व

---

१. दशरूपक, १।११
२. रूपक रहस्य, पृ० ४७
३. नाट्यनिर्णय, पृ० २०
४. देखिए—काव्य-शास्त्र, पृ० १०३
५. देखिए—काव्य-शास्त्र की रूपरेखा, पृ० ११०
६. नाट्यशास्त्र, ६।१०
७. नाट्यशास्त्र, ६।१० पर अभिनवभारती
८. वही, १।१७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हैं।[1] इन चार तत्त्वों में प्रथम तीन साधक तत्त्व हैं और रस साध्य या लक्ष्य तत्त्व। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में पाठ्य, गीत और अभिनय की रसानुकूलता का तो व्यापक आख्यान किया ही है, अन्य नाट्यांगों की रस-सम्बद्धता का भी यत्र-तत्र संकेत किया है, इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। स्पष्टतः भरत की दृष्टि में रस नाटक का सर्वातिशायी तत्त्व है।

इसके विपरीत, नवीनता के आवेश में, कतिपय विचारकों ने रस को नाट्य-तत्त्व मानने से ही इनकार कर दिया है। 'नाटक के तत्त्व : सिद्धान्त और समीक्षा' में विष्णु कुमार त्रिपाठी 'राकेश' ने लिखा है : 'रस नाटक का तत्त्व है अथवा नहीं ? यह ज्ञातव्य है कि रस-निष्पत्ति या रसाभास सामाजिक में या दर्शकों को ही होता है। यद्यपि रस-निष्पत्ति नाटक के परिणामस्वरूप होती है फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि सामाजिक की अनुभूति नाटक के मन्तव्य के अनुसार ही हो। रस का प्रभाव-स्थल मंच अभिनेता, कथावस्तु, संवाद और रंग-निर्देश के बाहर होता है। अतः सामाजिक में उत्पन्न रसोद्रेक नाटक का परिणाम हो सकता है, तत्त्व नहीं, क्योंकि तत्त्व वही है जो नाटक शरीर की रचना में सर्वत्र हो।'[2] लेखक का यह कथन अनेक दृष्टियों से असंगत और भ्रान्तिजन्य है। नाटक के विवेचन में यह ध्यातव्य है कि नाट्य त्रि-आयामी कला है। इसके एक छोर पर रचयिता है तो दूसरे पर सूत्रधार (अभिनेता) और तीसरे पर दर्शक। 'वस्तुतः नाटक की सफलता कला के रूप में तभी हो सकती है; जब इन तीनों आयामों का ध्यान रखा जाएगा। नाटक-रचना सम्बन्धी कोई भी सिद्धान्त तब तक पूर्ण और उचित नहीं हो सकता, जब तक उसके दृष्टिकोण में अभिनयकला का रूप न हो। उसी प्रकार अभिनय-कला सम्बन्धी कोई सिद्धान्त दर्शकों की रसानुभूति की उपेक्षा करके स्थिर नहीं रह सकता।[3] विष्णु कुमार त्रिपाठी 'राकेश' ने रस को नाट्य तत्त्व के रूप में मान्यता न देते समय न केवल नाट्य को दर्शक-विहीन मान लिया है, वरन् रस को भी नाट्य-बाह्य मान लिया है, जो वस्तु स्थिति के विपरीत है। 'रचयिता जिन भावानुभूतियों के सहारे कथा-वस्तु का सर्जन करता है, उसी भावानुभूति के आधार पर सूत्रधार कथावस्तु के अभिनय का निर्देश देता है और उस कथावस्तु के आधार पर दर्शक अभिनय देखकर भावानुभूति का रस प्राप्त करता है।'[4] स्पष्टतः रस अथवा भाव की सत्ता समग्र नाटकीय कार्य व्यापार में व्याप्त रहती है। नाटक की रचना करते समय आलेखकार के सामने और प्रदर्शन के समय अभिनेताओं के सामने दर्शक-वर्ग रहता है। 'अभिनय-प्रदर्शन केवल अभिनेता के स्वांतः सुखाय नहीं होता, वह अनिवार्य रूप से दर्शक-वर्ग को दिखाने और उस पर कोई एक निश्चित इच्छित

---

१. भारतीय नाट्य-शास्त्र तथा हिन्दी-नाट्य-विधान, डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० ५३
२. नाटक के तत्व : सिद्धान्त और समीक्षा, विष्णुकुमार त्रिपाठी 'राकेश', पृ० ५१-५२
३. नाट्यकला, डॉ० रघुवंश, पृ० ९-१०
४ वही, पृ० ११

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रभाव डालने के लिए ही होता है। अन्य कलाओं तथा कथा-साहित्य के ही अन्य प्रकारों की भाँति, नाटककार और अभिनेता अपने दर्शक-वर्ग को भूलकर, उसकी उपेक्षा करके, उससे सम्बन्ध स्थापित होने की संभावना के प्रति तटस्थ होकर, रचना न तो करता है, न कर सकता है।'[1] डॉ० सिद्धनाथ कुमार के मतानुसार, 'नाटक का अंतिम लक्ष्य दर्शक-पाठक है, और इसकी दृष्टि से ही नाटक का अध्ययन अपेक्षित है।'[2] नाटक का अन्तिम लक्ष्य दर्शक-पाठक को रसानुभूति कराना है और नाट्य का समग्र विधान इसी के लिए होता है, फलतः नाट्य के अन्य तत्त्वों अथवा नाट्यांगों में रस उसी प्रकार व्याप्त रहता है जैसे फूल में सुगंध—और इस तथ्य को भारतीय नाट्यालोचक ही नहीं, पाश्चात्य नाट्य-चिंतक भी जानते हैं। रोनाल्ड पीकाक के अनुसार 'नाटक की कई बातों से हमें आनन्द मिलता है—कहानी से, चरित्रांकन से, व्यक्तियों के भाग्य-दुर्भाग्य और समस्याओं, भावनाओं आदि में सहानुभूतिपूर्ण रुचि लेने के कारण। हमें नाटककार के कौशल से आनन्द मिलता है, उसके स्थापत्य से, उसकी रंगचेतना से, उसके द्वारा अभिनेताओं को प्रदत्त अवसरों से। भाषा-तत्त्व, अलंकृति, वाग्वैदग्ध्य, श्लेष, सूक्ति आदि भी आनंद के विषय होते हैं। रंगसज्जा, प्रस्तुतीकरण, अभिनय, अभिनेताओं और अभिनेत्रियों के व्यक्तित्व भी आनन्द के उपकरण बनते हैं।'[3] स्पष्टतः नाटक की समग्र वस्तु, पात्र, भाषा, रंग-कौशल आदि में रस अथवा भाव का आधार रहता है और जो नाटककार या अभिनेता इसका ध्यान न रखकर दर्शकों को रस-मग्न नहीं कर पाता, उसकी रचना उतनी ही निष्प्राण रह जाती है।

कतिपय अन्य आधुनिक नाट्यालोचकों ने भी, आधुनिक नाटक के संदर्भ में या तो रस-तत्त्व को स्वीकृति ही नहीं दी या उसकी उपेक्षा की है। उदाहरण के लिए राम गोपाल सिंह चौहान ने कथा, संवाद और दृश्य-विधान को नाटक का आधार-भूत तत्त्व माना है।[4] उन्हीं के साक्ष्य पर डॉ० गिरीश रस्तोगी ने भी इन्हीं तीन तत्त्वों को स्वीकृति प्रदान करते हुए नाटक के छः तत्त्वों को इनमें अन्तर्भुक्त माना है।[5] इन विवेचकों के मत में कथावस्तु में कथा, पात्र (चरित्र-चित्रण) और उद्देश्य, संवाद और भाषा शैली तथा दृश्य विधान में वातावरण सृजन, देश-काल एवं रंग निर्देश समाहित हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि कथावस्तु में वस्तु, पात्र एवं उद्देश्य तथा संवाद में कथोपकथन के अतिरिक्त भाषाशैली का भी समाहार उचित नहीं। रामगोपाल सिंह चौहान के इस दृष्टिकोण का डॉ० सिद्धनाथ कुमार ने सशक्त खण्डन किया है।[6] पाश्चात्य नाट्यालोचन के

---

१ रंग-दर्शन, नेमिचन्द्र जैन, पृ० १८

२. प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन, डॉ० सिद्धनाथ कुमार, पृ० ६६

३. दि आर्ट आफ ड्रामा, रोनाल्ड पीकाक, पृ० १५८, उद्धृत—प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन, डॉ० सिद्धनाथ कुमार, पृ० ६६

४. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा, रामगोपाल सिंह चौहान, पृ० १२२

५. हिन्दी-नाटक : सिद्धान्त और विवेचन, डॉ० गिरीश रस्तोगी, पृ० ५३-५४

६. देखिए—हिन्दी एकांकी की शिल्पविधि का विकास, डॉ० सिद्धनाथ कुमार, पृ० ५८-५९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

फल-स्वरूप आधुनिक हिन्दी-विवेचक सामान्यतः जिन नाट्य-तत्त्वों को स्वीकृति प्रदान करते हैं और जिनको मानने की परिपाटी-सी चल पड़ी है वे हैं—कथानक, पात्र, संवाद उद्देश्य, देश-काल, भाषा-शैली एवं रंग-संकेत[1] और इन सभी में रस का स्पष्ट आधार है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'यदि कवि के वर्णन में या नाटक के अभिनय से हम रस तक नहीं पहुँच सके तो वह काव्य और वह नाटक व्यर्थ हैं। नायक (ले जाने वाला) नायक है क्योंकि वह सहृदय को रस तक ले जाता है, नायिका (ले जाने वाली) नायिका है क्योंकि वह सहृदय को रस तक ले जाती है, अभिनय (भीतर तक ले जाने वाला) अभिनय है, क्योंकि वह रस को भीतर तक ले जाता हैं, पात्र (वर्तन) पात्र हैं क्योंकि वे रस के आधार हैं, और रूपक (रूप देने वाला) रूपक है क्योंकि वह इस अरूप रस को रूप देकर प्रत्यक्ष कराता है। समूचा भारतीय काव्य-साहित्य रस को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न है।'[2] स्पष्टतः नाटक के सभी तत्त्वों में रस का आधार है और उनका मुख्य लक्ष्य रस को प्रत्यक्ष करना है।

वस्तु-विधान और रस

उपर्युक्त तत्त्वों पर पृथक्-पृथक् विचार करने पर तो इनकी रसात्मकता और भी भास्वर हो उठती है। इन सभी तत्त्वों में रस के आधार का स्पष्ट उल्लेख प्राचीन आचार्यों ने ही नहीं, अर्वाचीन नाट्य-विवेचकों ने भी किया है। भरतमुनि ने 'इतिवृत्त' को नाट्य का शरीर बताकर[3] इसमें सभी भावों, सभी रसों, सभी कर्मों की प्रवृत्तियों तथा नाना अवस्थाओं का संविधान आवश्यक माना है।[4] भरत के टीकाकार अभिनवगुप्त ने तो इतिवृत्त रूपी शरीर की आविर्भावक आत्मा के रूप में ही रस का आख्यान किया है।[5] भरत ने ही नहीं, भरतेतर अन्य भारतीय नाट्य-विवेचकों ने भी नाट्य-वस्तु के प्रकारों, पंच अर्थप्रकृतियों, पंच कार्यावस्थाओं, पंच सन्धियों, सन्ध्यंगों, अर्थोपक्षेपकों आदि के सन्दर्भ में रस के आधार एवं रसपेशलता का अत्यन्त स्पष्ट निर्देश किया है। नाट्यदर्पणकार के मत में 'वृत्त' (वस्तु) की रचना करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि उसमें एक रस अंगी तथा अन्य उसके अंगभूत हों एवं अन्त में अद्भुत रस का समावेश हो। समग्र वस्तु रसोर्मियों से युक्त तो हो किन्तु रसाधिक्य से न तो नाट्य का कथाभाग विच्छिन्न होने पाये और न अलंकार या कथादि के आधिक्य से रस का विच्छेद ही होने पाये।[6] वस्तु और रस का यह औचित्यपूर्ण संयोजन ही भारतीय नाट्य-कला का महान्

---

१. हिन्दी एकांकी की शिल्पविधि का विकास, डा० सिद्धनाथ कुमार, पृ० ५६

२ साहित्य-सहचर, पृ० १४६

३. इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्। —नाट्यशास्त्र, १९।१

४ सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्म प्रवृत्तिभिः।
नानावस्थान्तरोपेतं नाटकं संविधीयते॥ —वही, २१।१२६

५. द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र, १९।१ पर अभिनवभारती

६. एकांगिरसमन्यांगमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः।
अलंघितमलंकार कथांगैरगलद्रसम्॥ —नाट्यदर्पण, १।१५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रभाव डालने के लिए ही होता है। अन्य कलाओं तथा कथा-साहित्य के ही अन्य प्रकारों की भाँति, नाटककार और अभिनेता अपने दर्शक-वर्ग को भूलकर, उसकी उपेक्षा करके, उससे सम्बन्ध स्थापित होने की संभावना के प्रति तटस्थ होकर, रचना न तो करता है, न कर सकता है।'[1] डॉ० सिद्धनाथ कुमार के मतानुसार, 'नाटक का अंतिम लक्ष्य दर्शक-पाठक है, और इसकी दृष्टि से ही नाटक का अध्ययन अपेक्षित है।'[2] नाटक का अन्तिम लक्ष्य दर्शक-पाठक को रसानुभूति कराना है और नाट्य का समग्र विधान इसी के लिए होता है, फलतः नाट्य के अन्य तत्त्वों अथवा नाट्यांगों में रस उसी प्रकार व्याप्त रहता है जैसे फूल में सुगंध—और इस तथ्य को भारतीय नाट्यालोचक ही नहीं, पाश्चात्य नाट्य-चिंतक भी जानते हैं। रोनाल्ड पीकाक के अनुसार 'नाटक की कई बातों से हमें आनन्द मिलता है—कहानी से, चरित्रांकन से, व्यक्तियों के भाग्य-दुर्भाग्य और समस्याओं, भावनाओं आदि में सहानुभूतिपूर्ण रुचि लेने के कारण। हमें नाटककार के कौशल से आनन्द मिलता है, उसके स्थापत्य से, उसकी रंगचेतना से, उसके द्वारा अभिनेताओं को प्रदत्त अवसरों से। भाषा-तत्त्व, अलंकृति, वाग्वैदग्ध्य, श्लेष, सूक्ति आदि भी आनंद के विषय होते हैं। रंगसज्जा, प्रस्तुतीकरण, अभिनय, अभिनेताओं और अभिनेत्रियों के व्यक्तित्व भी आनन्द के उपकरण बनते हैं।'[3] स्पष्टतः नाटक की समग्र वस्तु, पात्र, भाषा, रंग-कौशल आदि में रस अथवा भाव का आधार रहता है और जो नाटककार या अभिनेता इसका ध्यान न रखकर दर्शकों को रस-मग्न नहीं कर पाता, उसकी रचना उतनी ही निष्प्राण रह जाती है।

कतिपय अन्य आधुनिक नाट्यालोचकों ने भी, आधुनिक नाटक के संदर्भ में या तो रस-तत्त्व को स्वीकृति ही नहीं दी या उसकी उपेक्षा की है। उदाहरण के लिए राम गोपाल सिंह चौहान ने कथा, संवाद और दृश्य-विधान को नाटक का आधार-भूत तत्त्व माना है।[4] उन्हीं के साक्ष्य पर डॉ० गिरीश रस्तोगी ने भी इन्हीं तीन तत्त्वों को स्वीकृति प्रदान करते हुए नाटक के छः तत्त्वों को इनमें अन्तर्भुक्त माना है।[5] इन विवेचकों के मत में कथावस्तु में कथा, पात्र (चरित्र-चित्रण) और उद्देश्य, संवाद और भाषा शैली तथा दृश्य विधान में वातावरण सृजन, देश-काल एवं रंग निर्देश समाहित हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि कथावस्तु में वस्तु, पात्र एवं उद्देश्य तथा संवाद में कथोपकथन के अतिरिक्त भाषाशैली का भी समाहार उचित नहीं। रामगोपाल सिंह चौहान के इस दृष्टिकोण का डॉ० सिद्धनाथ कुमार ने सशक्त खण्डन किया है।[6] पाश्चात्य नाट्यालोचन के

---

१ रंग-दर्शन, नेमिचन्द्र जैन, पृ० १८

२. प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन, डॉ० सिद्धनाथ कुमार, पृ० ६६

३. दि आर्ट आफ ड्रामा, रोनाल्ड पीकाक, पृ० १५८, उद्धृत—प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन, डॉ० सिद्धनाथ कुमार, पृ० ६६

४. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा, रामगोपाल सिंह चौहान, पृ० १२२

५. हिन्दी-नाटक : सिद्धान्त और विवेचन, डॉ० गिरीश रस्तोगी, पृ० ५३-५४

६. देखिए—हिन्दी एकांकी की शिल्पविधि का विकास, डॉ० सिद्धनाथ कुमार, पृ० ५८-५६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

फल-स्वरूप आधुनिक हिन्दी-विवेचक सामान्यतः जिन नाट्य-तत्त्वों को स्वीकृति प्रदान करते हैं और जिनको मानने की परिपाटी-सी चल पड़ी है वे हैं—कथानक, पात्र, संवाद उद्देश्य, देश-काल, भाषा-शैली एवं रंग-संकेत[1] और इन सभी में रस का स्पष्ट आधार है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'यदि कवि के वर्णन से या नाटक के अभिनय से हम रस तक नहीं पहुँच सके तो वह काव्य और वह नाटक व्यर्थ हैं। नायक (ले जाने वाला) नायक है क्योंकि वह सहृदय को रस तक ले जाता है, नायिका (ले जाने वाली) नायिका है क्योंकि वह सहृदय को रस तक ले जाती है, अभिनय (भीतर तक ले जाने वाला) अभिनय है, क्योंकि वह रस को भीतर तक ले जाता हैं, पात्र (वर्तन) पात्र हैं क्योंकि वे रस के आधार हैं, और रूपक (रूप देने वाला) रूपक है क्योंकि वह इस अरूप रस को रूप देकर प्रत्यक्ष कराता है। समूचा भारतीय काव्य-साहित्य रस को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न है।'[2] स्पष्टतः नाटक के सभी तत्त्वों में रस का आधार है और उनका मुख्य लक्ष्य रस को प्रत्यक्ष करना है।

वस्तु-विधान और रस

उपर्युक्त तत्त्वों पर पृथक्-पृथक् विचार करने पर तो इनकी रसात्मकता और भी भास्वर हो उठती है। इन सभी तत्त्वों में रस के आधार का स्पष्ट उल्लेख प्राचीन आचार्यों ने ही नहीं, अर्वाचीन नाट्य-विवेचकों ने भी किया है। भरतमुनि ने 'इतिवृत्त' को नाट्य का शरीर बताकर[3] इसमें सभी भावों, सभी रसों, सभी कर्मों की प्रवृत्तियों तथा नाना अवस्थाओं का संविधान आवश्यक माना है।[4] भरत के टीकाकार अभिनवगुप्त ने तो इतिवृत्त रूपी शरीर की आविर्भावक आत्मा के रूप में ही रस का आख्यान किया है।[5] भरत ने ही नहीं, भरतेतर अन्य भारतीय नाट्य-विवेचकों ने भी नाट्य-वस्तु के प्रकारों, पंच अर्थप्रकृत्तियों, पंच कार्यावस्थाओं, पंच सन्धियों, सन्ध्यंगों, अर्थोपक्षेपकों आदि के सन्दर्भ में रस के आधार एवं रसपेशलता का अत्यन्त स्पष्ट निर्देश किया है। नाट्यदर्पणकार के मत में 'वृत्त' (वस्तु) की रचना करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि उसमें एक रस अंगी तथा अन्य उसके अंगभूत हों एवं अन्त में अद्भुत रस का समावेश हो। समग्र वस्तु रसोर्मियों से युक्त तो हो किन्तु रसाधिक्य से न तो नाट्य का कथाभाग विच्छिन्न होने पाये और न अलंकार या कथादि के आधिक्य से रस का विच्छेद ही होने पाये।[6] वस्तु और रस का यह औचित्यपूर्ण संयोजन ही भारतीय नाट्य-कला का महान्

---

१. हिन्दी एकांकी की शिल्पविधि का विकास, डा० सिद्धनाथ कुमार, पृ० ५६

२ साहित्य-सहचर, पृ० १४६

३. इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्। —नाट्यशास्त्र, १६।१

४ सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्म प्रवृत्तिभिः।
नानावस्थान्तरोपेतं नाटकं संविधीयते॥ —वही, २१।१२६

५. द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र, १६।१ पर अभिनवभारती

६. एकांगिरसमन्यांगमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः।
अलंघितमलंकार कथांगैरगलद्रसम्॥ —नाट्यदर्पण, १।१५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

आदर्श है, जिसकी उपेक्षा किसी भी नाट्य-कृति के लिए घातक हो सकती है।

वस्तु के संदर्भ में, नाटककार के लिए, दृश्य और सूच्य का विवेक इसीलिए आवश्यक माना गया है ताकि वह कथा के मार्मिक प्रसंगों को दृश्य-रूप में प्रस्तुत कर सहृदय को रसानुभूति कराने में समर्थ हो सके। दशरूपककार धनंजय-धनिक[1] एवं नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र[2] ने इसी दृष्टि से नायक अथवा रस के विरोधी अंश को या तो सर्वथा त्याज्य माना है या उसकी अन्यथा प्रकल्पना पर बल दिया है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि 'काव्य प्रबन्ध की रचना करते समय कवि को सब प्रकार से रस-परतन्त्र होना चाहिए। इस विषय में यदि इतिवृत्ति में रस की अनुकूल स्थिति न दीख पड़े, तो उसे तोड़ कर भी स्वतन्त्र रूप से रसानुकूल अन्य कथा की रचना करनी चाहिए।'[3]

आधुनिक चिन्तकों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाटककार के लिए दृश्य सूच्य-विवेक की आवश्यकता पर बल देते हुए वस्तु की रसपेशलता का उल्लेख इन शब्दों में किया है : 'इस (नाटक के) कथावस्तु के दो अंग होते हैं—दृश्यांश और सूच्यांश। अर्थात् एक तो वह वस्तु जो नाटक की क्रिया को अग्रसर करती है और सहृदय को रसानुभूति के अनुकूल करती है। नाटककार को यह समझना चाहिए कि कथावस्तु में कौन-सा दृश्यांश होगा और कौन-सा सूच्यांश।...नाटक की कथावस्तु का विचार करते समय देखना चाहिए कि नाटककार जिन बातों को रंगमंच पर अभिनीत होते दिखाना चाहता है वे मार्मिक अंश हैं या नहीं, और पूर्ववर्ती या परवर्ती घटनाओं की अनुभूति को गाढ़ करने में कोई सहायता पहुँचा रही हैं या नहीं।'[4] स्पष्टतः नाटक की वस्तु में मार्मिक-अनुभूतिप्रवण दृश्यांश ही महत्त्वपूर्ण है और इसी के विधान और चयन पर किसी नाटक की सफलता निर्भर करती है।

नाट्य-वस्तु में किसी एक मूल भाव—अंगी रस का स्वीकार प्राचीन भारतीय आचार्यों को मान्य रहा है, उनके इस मत का स्वीकार और समर्थन 'हिन्दी नाटकों की शिल्प-विधि' पर शोध करने वाली डॉ० (श्रीमती) गिरजा सिंह ने इन शब्दों में किया है : 'आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक कथाओं की प्रथा भारतीय तथा पाश्चात्य नाटकों में बहुत प्राचीन है। कथा में विभिन्नता रुचि-वैचित्र्य को तृप्त करती है, किन्तु प्रत्येक कथा में एक मूल भाव होता है, जो विभिन्नता के होते हुए भी निष्कम्प रहता है और रहना चाहिए, क्योंकि उसके अभाव में नाटक तमाशा बनकर रह जायेगा।'[5]

---

१ यत् तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्॥ —दशरूपक, ३।२२

२. अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा।
वृत्तं यत् तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा॥ —नाट्यदर्पण, १।१८

३. ध्वन्यालोक, ३।१४ का वृत्ति-भाग, पृ० १४८ (निर्णयसागर)

४. साहित्य-सहचर, पृ० १०६

५. हिन्दी नाटकों की शिल्प-विधि, पृ० ७८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इस प्रकार आधुनिक नाट्यालोचकों, शोधार्थियों एवं नाट्याध्येताओं ने भी वस्तु में रस का आधार स्वीकार किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि भारतीय नाट्य-चिन्तकों ने जहाँ रस को नाटक का साध्य तत्त्व माना, वहाँ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आद्याचार्य और सुप्रसिद्ध नाट्यालोचक अरस्तू ने कथानक को नाट्य का सर्वप्रमुख तत्त्व माना है। उनके अनुसार, 'कथानक त्रासदी का प्रमुख अंग है—वह मानो त्रासदी की आत्मा है।'[1] अरस्तू की इस मान्यता के जो संभावित कारण हो सकते हैं उनमें तत्कालीन उपलब्ध नाट्य-साहित्य में वस्तु की प्रधानता, अरस्तू का वस्तुपरक दृष्टिकोण और अनुकरण-सिद्धान्त मुख्यतः उल्लेखनीय हैं।[2] कथानक के प्रति अरस्तू का जो अतिरिक्त आग्रह है, वह परवर्ती पश्चिमी नाट्यालोचकों को ही मान्य नहीं हुआ, तब आज उसे कैसे स्वीकार किया जा सकता है? वस्तुतः नाट्य का साध्य है रस और कथानक उसका माध्यम है। अरस्तू के कथानक विषयक दृष्टिकोण पर विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने उचित ही लिखा है: 'परन्तु प्रश्न यह है कि क्या कथानक, जैसा कि अरस्तू ने लिखा है, काव्य का साध्य हो सकता है? घटना हमको निश्चय ही आकृष्ट करती है। अपने मूर्त रूप-आकार के कारण उसका यह आकर्षण सर्वथा स्पष्ट होता है, किन्तु इस आकर्षण का रहस्य घटना की क्रिया-प्रक्रिया न होकर, उसमें निहित मानव-तत्त्व एवं भाव ही होता है। मानव-तत्त्व से रहित होने से बड़ी-से-बड़ी घटना भी हमारे लिए आकर्षण-शून्य होती है।'[3] स्पष्टतः वस्तु को भाव या रस के योग से ही महत्त्व प्राप्त होता है और उसी से वह नाट्य-वस्तु का रूपाकार ग्रहण करती है।

पात्र और रस

वस्तु के बाद, आधुनिक नाट्यालोचक नाट्य-तत्त्वों में पात्र अथवा चरित्र-चित्रण की परिगणना करते हैं। जैसा कि हम लिख चुके हैं, अरस्तू ने नाट्य-तत्त्वों में कथानक को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना था किन्तु 'मध्य तथा आधुनिक विचारकों ने प्राचीन पाश्चात्य के वस्तु प्राधान्य विचार को संशोधित करके पात्रों को प्राधान्य का विषय माना है।'[4] अब चरित्र-चित्रण का महत्त्व कथानक से निश्चय ही अधिक है और "विश्व के नाट्य-साहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यही जान पड़ता है कि 'वाह्य-चरित्र' से 'अन्तश्चरित्र' की ओर, 'कथानक' से 'चरित्र-चित्रण' की ओर प्रगति हो रही है।"[5] निस्सन्देह नाटक में कथानक की अपेक्षा चरित्र-चित्रण का अधिक

---

१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, अनुवादक : डॉ० नगेन्द्र एवं महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० २१
२. वही, भूमिका (डॉ० नगेन्द्र), पृ० ६७
३. वही, भूमिका (डॉ० नगेन्द्र), पृ० ६७
४. नाट्यकला—प्राच्य एवं पाश्चात्य, डॉ० सुदर्शन मिश्र, पृ० २५५
५. भारतीय नाट्य-साहित्य, सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र (पाश्चात्य नाटकों में चरित्र-चित्रण : डॉ० लीलाधर गुप्त और जयकान्त मिश्र), पृ० १५४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

महत्त्व है क्योंकि नाटक का समग्र कार्य-व्यापार पात्रों और उनके अभिनय के द्वारा ही सम्पन्न होता है—नाटककार प्रत्यक्षतः इस कार्य-व्यापार में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

संस्कृत-नाट्यशास्त्रियों ने पात्रों में नायक को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानकर उसका विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु अन्य पात्रों की भी उन्होंने नितान्त उपेक्षा नहीं की। निश्चय ही भारतीय आचार्यों की पात्र-परिकल्पना भी रसाश्रयी है। पात्रों में नायक को प्रामुख्य देने का कारण यह है कि वह रागात्मक प्रभाव और फलागम का महत्त्वपूर्ण आधार होता है। शील की दृष्टि से भरत एवं अन्य नाट्याचार्यों ने चतुर्विध नायकों की परिकल्पना की है—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त।[1] नायक के इन चार प्रकारों में शास्त्रकारों की रस-दृष्टि नितान्त स्फुट है। अपने स्वभाव के अनुरूप धीरोद्धत नायक वीर एवं रौद्र रसों का आलम्बन होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने जहाँ इस प्रकार के नायक के चरित्र में शूरता एवं रौद्रता की व्याप्ति मानी है,[2] वहाँ नाट्यदर्पणकार ने इसे भयंकर दम्भी एवं अस्थिर चित्त वाला भी बतलाया है।[3] धीरललित नायक को शृंगारी माना गया है।[4] 'स्पष्टतः वह शृंगार का आलम्बन है। धीरोदात्त नायक का सम्बन्ध वीर एवं शृंगार रसों के साथ है और वह रूपक के सर्व-प्रमुख भेद—नाटक का नायक होता है। इसी प्रकार धीरप्रशांत की प्रकृति सात्विक होती है, अतः वह शमप्रधान होता है।[5]

संस्कृत के कतिपय आचार्यों ने, शृंगार को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानकर, इस दृष्टि से भी नायक-प्रकारों का निर्देश किया। अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ठ नायकों की परिकल्पना[6] इसी आधार पर की गयी। इस वर्गीकरण का मुख्य आधार नायिका के प्रति नायक का प्रणय-व्यवहार है। इसी प्रकार नायिका-भेद भी शृंगाराश्रयी है। 'नायिका की कल्पना नायक की प्रेम या काम सम्बन्धी चेष्टाओं तथा सामाजिकों की शृंगारिक-प्रवृत्ति पर आधारित है, क्योंकि अधिकांश नायिकाएँ अपने अन्तर के प्रेम द्वारा संचालित होती हैं। संस्कृत-नाटकों में अपनी प्रेरणा द्वारा नायक के कार्यों का संचालन करने वाली नायिकाएँ भी दीख जाती हैं, परन्तु अधिकांश या तो पति या प्रेमी के साथ यौवन-सुख का उपभोग करती हैं या विरहवह्नि में विदग्ध रहती हैं।'[7] स्पष्टतः, संस्कृत-नाट्याचार्यों के नायिका-भेद का प्रधान आधार रति अथवा शृंगार

---

१ नाट्यशास्त्र, ३४।१७

२. काव्यानुशासन, अध्याय ७, पृ० ३५६

३. नाट्यदर्पण, १।८

४. वही, १।६

५ विनयोपशमवान् धीरशान्तः। —काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), अध्याय ७, पृ० ३५६

६. दशरूपक, २।६; काव्यालंकार (रुद्रट), १२।६-१२; भावप्रकाशन (शारदातनय), पंचम अधिकार, पृ० १०६

७. हिन्दी नाटक में पात्र-कल्पना और चरित्र-चित्रण, डा० सूरजकान्त शर्मा, पृ० २६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

ही है।

प्राचीन नाट्याचार्यों ने स्त्री-पुरुषों के सामान्य स्वभाव के आधार पर भी नायक-नायिकाओं का वर्गीकरण किया है। नर-नारियों के उत्तम, मध्यम और अधम स्वभाव का निर्देश करने के उपरान्त भरतमुनि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अधम व्यक्ति को नायक नहीं बनाया जा सकता।[1] परवर्ती नाट्य-विवेचकों ने सामान्यतः भरत के इसी मत का समर्थन किया,[2] किन्तु कथा के आग्रह से, भाण, प्रहसन, वीथि आदि में अधम या निम्न स्वभाव वाले व्यक्तियों का नायकत्व भी, आपद्धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया गया। संस्कृत-नाटकों में नायक-नायिका के अलावा अन्य अनेक पात्र भी होते थे। इनमें नायक-नायिका के सहायक पात्रों के अतिरिक्त प्रतिनायक अथवा खलनायक की भी सत्ता है। मानव स्वभाव के भरतोक्त त्रिविध प्रकारों में मानव-मन की बहुरंगी भाव-लहरियों का भी निश्चय ही समावेश है। इस ओर संकेत करते हुए डॉ० लक्ष्मीराय ने लिखा है कि 'संस्कृत नाटकों में पात्रों की संख्या पर्याप्त होती है, किन्तु उनकी सभी चित्त-वृत्तियों का समाहार इन तीन कोटियों में सहज रूप से हो जाता है। नायक अथवा प्रधान केन्द्रीय पात्र से लेकर विट, चेट, विदूषक आदि गौण एवं सहायक पात्रों में यह प्रकृतिभेद समान रूप से लक्षित होता है।'[3] डॉ० राय के इस मत से वैमत्य का हमें कोई कारण दिखाई नहीं देता।

पृथक्-पृथक् रसों के लिए पृथक्-पृथक् नायक की विशेषताओं का उल्लेख 'नञ्जराज-यशोभूषण' के रचयिता अभिनव कालिदास ने इस प्रकार किया है: 'जो व्यक्ति प्रेम में दृढ़, सुन्दर, कलाओं का ज्ञाता, विलासयुक्त और काम-कलाओं में चतुर हो वह श्रृंगार रस के नाटक का नायक होता है। जो वीर, पराक्रमी, तेजस्वी, गम्भीर, मानी और सदा युद्ध के लिए तैयार रहे वह वीर रस के नाटक का नायक होता है। जो व्यक्ति चंचल, सबके दोष निकालने वाला, हर्ष बढ़ाने वाला, निन्दा करने वाला, हँसाने की क्रिया में चतुर और बात बनाना जानता हो वह हास्य रस का नायक होता है। जो सदा चिन्तित रहता हो, दीन, श्रान्त, अकर्मण्य, खिन्न, भूला हुआ और दुःखी हो वह करुण रस के नाटक का नायक होता है। हर्ष और क्रोध से युक्त, किसी की न मानने वाला, अभिमान में चूर, चंचल चित्त वाला और अत्यन्त उत्साह वाला व्यक्ति रौद्र रस का नायक होता है। जिसके मुख से ठीक शब्द न निकलते हों, बहुत ही हीन मुद्रा वाला हो, किंकर्त्तव्यविमूढ़, दुःखी, हड़बड़िया, पसीने-पसीने होने वाला तथा सदा कांपते रहने वाला भयानक रस का नायक होता है। मदिरा और मांस से जिसका शरीर सना हो, जिसके मुख पर भय और घबराहट के भाव हों, मुँह से लार टपकती

---

१. द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र, २४।२-७

२ (क) ज्येष्ठमध्यम धेमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता। —हिन्दी दशरूपक, पृ० १३३

(ख) नाट्यदर्पण, ४।१५६

३. आधुनिक हिन्दी नाटक : चरित्र-सृष्टि के आयाम, डॉ० लक्ष्मी राय, पृ० २३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हो और मद में चूर्ण हो, वह बीभत्स रस का नायक होता है। जो जितेन्द्रिय, क्रोधहीन, सात्विक गुणों से युक्त, सदा प्रसन्न रहने वाला, परम सत्वशील और धीर हो वह शान्त रस का नायक होता है।'[1] विभिन्न रस-प्रधान नाटकों के अभिनय के लिए, अभिनेताओं के चयन में भी नञ्जराजयशोभूषणकार की उपर्युक्त दृष्टि से सहायता ली जा सकती है।

पात्र-वर्गीकरण के अतिरिक्त संस्कृत के शास्त्रकारों ने पात्रों की वृत्तियों, प्रवृत्तियों आदि के सन्दर्भ में भी रस का आधार नहीं छोड़ा है—इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। जहाँ तक आधुनिक नाटकों का प्रश्न है, उनमें पात्रों के जटिल चरित्र का, उनकी जटिल मानसिकता का चित्रण अवश्य रहता है, किन्तु इसीसे यह नहीं कहा जा सकता कि इस पात्र-विधान में रस का आधार नहीं है। नाटकीय पात्रों के क्रिया-कलाप वस्तुतः उनके आंतरिक भावों से ही सम्बद्ध अथ च प्रेरित होते हैं, फलतः उनमें रस अथवा भाव का निराकरण संभव नहीं।

निष्कर्षतः वस्तु, पात्र और रस में 'नाटक का प्राण रस है, उसका महत्त्व वस्तु और नेता दोनों से ही अधिक है। घटना से अधिक महत्त्वपूर्ण है उसमें निहित आत्म-तत्त्व (चरित्र) और आत्म-तत्त्व से अधिक महत्त्वपूर्ण है उसकी सफल अभिव्यक्ति (रस)।'[2] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके शब्दों में, 'नाटक की वस्तु की ऊपरी रूपरेखा की अपेक्षा उसका कल्पनात्मक ग्रहण कैसा हुआ है, यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। वस्तु के नाम, रूप और उसके ऊपरी स्वरूप के आधार पर कुछ निर्णय करना, जड़ मशीन को चेतन मनुष्य से बढ़कर मानने के समान अज्ञतापूर्ण है। अन्त में यही सिद्ध होता है कि कविकल्पना और काव्यात्मक अनुभूति ही सब कुछ है, और वस्तु तथा चरित्र-चित्रण आदि उसके उपकरण या प्रसाधन मात्र हैं। यदि कवि की कल्पना पर किसी प्रकार का बंधन नहीं लगाया जा सकता, तो वस्तु और चरित्र की कोई सुनिश्चित रूपरेखा भी निर्धारित नहीं की जा सकती। अतः वस्तु और चरित्र की अपेक्षा रस अथवा भावानुभूति को प्रमुख तत्त्व मानना साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा संगत है।'[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु और चरित्र का आधार रस है, वही नाटक का प्राण-तत्त्व है और इस मत का समर्थन प्राचीन भारतीय आलंकारिकों ने ही नहीं, आधुनिक युग के मूर्धन्य आलोचकों—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदि ने भी किया है।

संवाद में रस का आधार

भारतीय दृष्टि से मान्य-उल्लिखित नाट्य-तत्वों में रस के आधार पर

---

१. उद्धृत—अभिनव नाट्यशास्त्र (प्रथम खण्ड), सीताराम चतुर्वेदी, पृ० २२
२. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, भूमिका (डॉ० नगेन्द्र), पृ० ६८
३. रस-सिद्धान्त : नए सन्दर्भ, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ११६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विस्तृत विचार कर लेने के उपरान्त, पाश्चात्य दृष्टि से स्वीकृत-चर्चित अन्य नाट्य-तत्त्वों की रस स्थिति पर भी यहीं संक्षिप्त विचार कर लेना अनुचित न होगा। इस दृष्टि से संवाद या कथोपकथन प्रथम स्थानीय है। वस्तुतः नाट्य-वस्तु की प्रस्तुति संवादात्मक ही होती है, अतः संवाद-विहीन नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती। यद्यपि वस्तु, नेता और रस में संवाद का प्रत्यक्ष कथन नहीं है, तथापि वस्तु में वह अन्तर्भुक्त है। यदि भरतोक्त पाठ्य, गीत, अभिनय और रस को नाट्य-तत्त्व माना जाय तो उस स्थिति में पाठ्य एवं वाचिक अभिनय में संवाद का समाहार हो जाता है; साथ ही यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि "भरत ने 'पाठ्य' अर्थात् संवाद को 'नाट्य-तत्त्वों में प्रथम स्थान दिया है'[1] और इस प्रकार नाट्य में संवाद की महत्त्वपूर्ण स्थित मानी है। डॉ० देवर्षि सनाढ्य ने 'पाठ्य' का सामान्य अर्थ संवाद अथवा कथोपकथन ही स्वीकार किया है[2]—और भरत ने अक्षर एवं छन्दों के रसानुसारी प्रयोग पर बल दिया है।[3] पाठ्य की अभिव्यक्ति वाचिक अभिनय द्वारा संभव होती है, और नाट्यदर्पणकार के अनुसार, '(वक्ता के) भाव के अनुसार (उसकी) वाणी का अनुकरण वाचिक (अभिनय) कहलाता है।'—वाचिकोऽभिनयो वाचां यथाभावमनुक्रिया।[4] 'यथाभाव' को स्पष्ट करते हुए इस सूत्र की वृत्ति में आगे लिखा गया है कि '(वक्ता के) मनके अनुसार 'यथाभाव' अर्थात् क्रोध, अहंकार, जुगुप्सा, उत्साह, विस्मय; हास्य, रति, भय शोक, सुख-दुःख, मोह-लोभ, माया, असूया, शका आदि (भावों) का, तथा कम्प, स्तम्भ, रोमांच, मूर्च्छा, वैवर्ण्य तथा प्रसन्नता आदि रूप भावों का अतिक्रमण किए बिना (अभिनय करना 'यथाभावमनुक्रिया' कहलाती है)।'[5] स्पष्टतः वाचिक अभिनय से रसानुकूलता की अपेक्षा रहती है।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने ही नहीं, आधुनिक चिन्तकों एवं नाट्यालोचकों ने भी संवादों की रससिक्तता एवं भावानुकूलता पर बल दिया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, 'पात्रों के चरित्र-चित्रण का एक प्रधान अवलम्ब उनकी बातचीत है। बातचीत से हम उनके भीतरी मनोभावों का आभास पाते हैं और उनकी क्रियाओं के पीछे रहने वाले उनके विचार समझ पाते हैं।···नाटककार जो बातचीत कराता है उसका उद्देश्य चरित्र के भीतरी मनोभावों और वास्तविक स्वभाव को व्यक्त करके उसके चरित्रगत वैशिष्ट्य को दिखाना होता है।'[6] सुप्रसिद्ध नाट्यालोचक डॉ० सिद्धनाथ कुमार ने दर्शकीय संवेदना की दृष्टि से, संवाद-विवेचन में दो बातों का ध्यान

---

१. भारतीय नाट्य शास्त्र तथा हिन्दी-नाट्य-विधान, डॉ० देवर्षि सनाढ्य, पृ० ६५
२. वही, पृ० ११०
३. देखिए—नाट्यशास्त्र, अध्याय १४-१७
४. नाट्य दर्पण, तृतीय विवेक, सूत्र २२६, पृ० ३५१
५. वही, वृत्ति, पृ० ३५२
६. साहित्य-सहचर, पृ० ११२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अपेक्षित माना है—बोधगम्यता और प्रभाव-सृष्टि।[1] उपयुक्त प्रभावसृष्टि के लिए संवादों का चरित्र-सम्बद्ध एवं अनतिरंजित होना आवश्यक है। डॉ० सिद्धनाथ कुमार के शब्दों में, 'जब अभिनेता स्वयं चरित्रों के संवेगों का अनुभव करता है तभी वह दर्शकों-श्रोताओं में उनकी पुनर्सृष्टि कर पाता है, अपेक्षित प्रभाव-सृष्टि में सफल होता है। चरित्र से असम्बद्ध संवादों का सतही या अतिरंजित होना दर्शकों के सम्मुख सहज ही स्पष्ट हो जाता है।'[2] नाट्य-तत्त्वों पर अणु-बन्ध लिखने वाले विष्णुकुमार त्रिपाठी ने भी संवादों का सम्बन्ध नाट्य प्रभाव एवं रस-निष्पत्ति से स्वीकार करते हुए लिखा है वि 'वाग्-व्यापार के काव्यत्व का सम्बन्ध नाटकों के प्रभाव अथवा रस-निष्पत्ति से है।'[3] डॉ० गिरीश रस्तोगी ने भी दर्शकीय आस्वाद की दृष्टि से यों तो विभिन्न प्रवृत्तियों के नाटकों के कथोपकथनों की उपयोगिता स्वीकार की है, किन्तु मनोवैज्ञानिक नाटकों के संदर्भ में इस तथ्य को विशेष रूप से रेखांकित किया है। उनके शब्दों में, 'मनोवैज्ञानिक नाटकों में जहाँ पात्रों के सूक्ष्मतम भावों, उनकी मानसिक स्थिति, घुटन, पीड़ा, द्वन्द्व को दर्शकों के सम्मुख लाना होता है वहाँ इनकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती है।'[4] कहने की आवश्यकता नहीं कि नाटककार जिन संवादों की योजना करता है, उनमें रस का आधार रहता है और उनके भावाभिव्यंजक एवं रसानुकूल होने पर भी नाटक की सफलता निर्भर करती है।

भाषा-शैली में रस का आधार

संवाद के समान नाट्य-भाषा में भी रस के आधार को नहीं छोड़ा जा सकता। भरतमुनि ने पाठ्य के अन्तर्गत भाषा का भी समाहार किया है। उन्होंने सर्वप्रथम पाठ्य के जो दो भेद किए हैं, उनका आधार भाषा है—

द्विविधं हि स्मृतं पाठ्यं संस्कृतं प्राकृतं तथा।[5]

पाठ्य की रसानुकूलता के लिए पद-संघटन पर विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है—इसका निर्देश अनेक आचार्यों ने किया है। वृत्ति, मार्ग, रीति आदि के अभिधान से नाट्य-भाषा की रससिक्तता की ओर संस्कृत के मान्य आचार्यों ने संकेत किया है। भरतमुनि ने वृत्तियों का विवेचन करते हुए वृत्तियों को 'नाट्य मातरः' माना है[6] तथा उनकी रसानुकूलता का निर्देश किया है:

हास्य श्रृंगारबहुला कैशिकी परिचक्षिता।
सात्त्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतशमाश्रया॥

---

१. प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन, पृ० १६४
२. वही, पृ० १६५
३. नाटक के तत्त्व : सिद्धान्त और समीक्षा, पृ० १०७
४. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और विवेचन, पृ० ४२
५. नाट्य-शास्त्र, १४।५
६. वही, १८।४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रौद्रे भयानके चैव विज्ञेयारभटी बुधैः।
वीभत्से करुणे चैव भारती संप्रकीर्तिता ॥[1]

कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती—वृत्ति-चतुष्टय को परवर्ती नाट्यालोचकों ने भी मान्यता दी। संस्कृत के मान्य आचार्यों ने ही नहीं, हिन्दी के नाट्य-चिन्तकों ने भी वृत्तियों की रसानुकूलता को स्वीकार किया है। इस दृष्टि से भारतेन्दु,[2] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी,[3] डॉ० विद्यानिवास मिश्र[4] आदि के मत अवेक्षणीय हैं। डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार 'नाटक में भाव और अर्थ की अभिव्यक्ति शैलियों को वृत्तियाँ कहते हैं।'[5]

वृत्तियों का परवर्ती विकास मार्ग, रीति संघटना आदि के रूप में दिखाई देता है। रीति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानकर उसके तीन भेद—वैदर्भी, गौड़ीया और पाँचाली स्वीकार किए, किन्तु इनके संदर्भ में रस को विशेष महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने समग्र काव्यालंकार सूत्र' में केवल एक स्थल पर रस शब्द का प्रयोग किया है—दीप्तरसत्वं कान्तिः। दीप्ता रसाश्शृंङ्गारादयो यस्य स दीप्त रसः। तस्य भावो दीप्त रसत्वं कान्तिः।[6] रीति के संदर्भ में रस की यह उपेक्षा परवर्ती आचार्यों को मान्य नहीं हुई, फलतः आनन्दवर्धन ने रीति को संघटना'[7] के नाम से अभिहित करते हुए उसका रस से सम्बन्ध स्थापित किया। पद-संघटना माधुर्यादि गुणाश्रिता है और वह रसों की अभिव्यक्ति करती है।[8] गुण रस का धर्म है,[9] अतः पद-संघटना की स्थिति रस के अभाव में असम्भव है। इसी दृष्टिकोण के कारण आनन्दवर्द्धन ने रसौचित्य को संघटना का नियामक स्वीकार किया है। आधुनिक युगीन चिन्तकों ने रीति और शैली के पारस्परिक सम्बन्ध—साम्य-वैषम्य पर विचार किया है।

नाटक की भाषिक चेतना को अन्य साहित्य-रूपों की भाषा से भिन्न मानकर उसकी रस-भाव-विधायिनी शक्ति का उल्लेख डॉ० सिद्धनाथ कुमार ने इन शब्दों में किया है—'साहित्य के दूसरे स्वरूप-विधानों की भाषा और नाटक की भाषा में अन्तर पड़ता है। नाटक प्रत्यक्ष प्रदर्शन का साहित्य है। उपभोक्ताओं से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। फलतः इसमें प्रत्यक्ष प्रेषणीयता की शक्ति अपेक्षित है। इसकी

---

१. नाट्य-शास्त्र, २०।७३ ७४
२ भारतेन्दु ग्रन्थावली (खंड १), पृ० ७२६-२७
३ भारतीय नाट्य-शास्त्र की परम्परा और दशरूपक की भूमिका, पृ० ४९-५०
४. रीतिविज्ञान, पृ० १५०
५. काव्यशास्त्र, पृ० १२४
६. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, ३, २, १५ वृत्ति सहित, पृ० १५७
७. ध्वन्यालोक, ३।५
८. वही, ३।६
९. वही, २।६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भाषा ऐसी हो कि वह भावों-विचारों को दर्शकों-श्रोताओं तक बिना किसी कठिनाई के प्रत्यक्ष रूप में पहुँचा सके, क्योंकि दर्शकों-श्रोताओं के पास रुककर सोचने का अवकाश नहीं रहता, पाठ्य-साहित्य में उपलब्ध सुविधाएँ नहीं रहतीं - पृष्ठोंको फिर से उलटकर देखा नहीं जा सकता, शब्दकोष का उपयोग नहीं किया जा सकता।'[1] नाट्य-भाषा की शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास आदि के साथ नाटककार के लिए शब्द-शक्तियों, शब्दों की भावपोषकता, शब्द-मैत्री आदि के ज्ञान की आवश्यकता की ओर डॉ० गिरीश रस्तोगी ने सम्यक् निर्देश किया है। उनके शब्दों में, 'चूँकि सजीव शैली ही साहित्य का सर्वस्व है, अतः प्रत्येक नाटककार को नाटक के अन्तर्गत विविध परिस्थितियों एवं मनोभावों को समझते हुए तथा रुचिभिन्नता, व्यक्तिवैशिष्ट्य और प्रकाशन-भंगी की विविधता का ध्यान रखते हुए समयानुसार उपयुक्त भाषा-शैली का प्रयोग करना चाहिए। पात्रों के भावों के उतार-चढ़ाव के अनुसार कहीं स्वाभाविक तथा व्यावहारिक भाषा-शैली की आवश्यकता होगी, कहीं ललित, मधुर एवं काव्यात्मक शैली की; तो कहीं प्रौढ़, गम्भीर एवं विचार-प्रधान शैली की।'[2] स्पष्टतः विभिन्न प्रवृत्तियों के नाटकों में एक-सी भाषा-शैली नहीं चल सकती, अन्यथा रस-व्याघात की सम्भावना हो जाएगी। निश्चय ही, उपयुक्त भाषा-शैली रस-निष्पत्ति में सहायक होती है।

देश-काल और वातावरण का विधान एवं रस-निष्पत्ति

लोक-जीवन की अनुकृति होने से नाटक के अनुकरण में वास्तविकता का भ्रम पैदा करने के लिए देश-काल और वातावरण का विधान आवश्यक है। जिस काल-खण्ड एवं जिस स्थान की घटनाएँ नाटक में चित्रित की जायें, तदनुकूल वातावरण के निर्माण एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के संयोजन से नाट्य-प्रभाव की सृष्टि एवं रस-निष्पत्ति में निश्चय ही सहायता मिलती है। किसी नाटक की सफलता इस बात पर भी निर्भर है कि उसमें देश-काल और वातावरण का सजीव, सर्वांगपूर्ण सरस एवं यथार्थ चित्रण हो। इसके अभाव में नाटक के नितांत कपोल-कल्पित एवं उपहास्यापद बन जाने का अंदेशा रहता है।

देश-काल का तत्त्व नाटक के किसी अंग-विशेष या स्थान-विशेष पर न होकर नाटक में आद्यन्त व्याप्त रहता है। 'नाटक के दृश्य-विधान में पात्रों की वेशभूषा, रहन-सहन, व्यवहार, संलाप-शैली आदि सभी बातों में इसे देखा जा सकता है। इसके उचित नियोजन के लिए उस समाज के सांस्कृतिक जीवन से घनिष्ठ परिचय की आवश्यकता होती है जिससे नाटक का कथानक ग्रहण किया जाता है।'[3] यों तो प्रत्येक प्रवृत्ति के नाटक में इसके समुचित विधान की अपेक्षा रहती ही है, किन्तु ऐति-

१. हिन्दी एकांकी की शिल्प-विधि का विकास, पृ० ६६
२. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और विवेचन, पृ० ४७-४८
३. हिन्दी एकांकी की शिल्प-विधि का विकास, डॉ० सिद्धनाथ कुमार, पृ० ६८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हासिक नाटकों में इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्कता होती है। इसकी सम्यक् संयोजना से रस-निष्पत्ति में सहायता मिलती है।

देश-काल और वातावरण नामक नाटकीय तत्त्व का समाहार रस-सिद्धान्त में उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत तो हुआ ही है, भरत के गीत-तत्त्व और आहार्य अभिनय में भी एक सीमा तक हो गया है। वातावरण-निर्माण में गीत-संगीत का महत्त्व प्रायः सर्वमान्य-सा है। अभिनवगुप्त ने गीत का महत्त्व स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'रस-चर्वणा गीत के ही अधीन है, अतः इसको उपरंजक मात्र नहीं कहा जा सकता।'[1] आहार्य अभिनय भी अनुकर्ता के द्वारा अनुकार्य की वेश-भूषादि से उसकी मनःस्थिति को ही व्यंजित करता है।

यूनानी नाट्यालोचक अरस्तू ने त्रासदी के संदर्भ में संकलन-त्रय का सिद्धान्त देश-काल और वातावरण की दृष्टि से ही प्रस्तुत किया था। जैसा कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'यद्यपि एक दिन, एक स्थान और एक कृत्य की संकीर्ण मर्यादा मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि इससे नाटककार अनावश्यक बंधनों से जकड़ जाता है; पर इन तीनों संकलनों के अन्तर्निहित सत्य को भुलाया नहीं जा सकता। रंगमंच पर यदि एक दृश्य आज का दिखाया गया हो और दूसरा दस वर्ष बाद का तो सहृदय श्रोता के चित्त में विकल्प उत्पन्न होगा और उसकी रसानुभूति में बाधा पड़ेगी। इसी तरह दृश्य यदि दूर देशों में पटापट परिवर्तित होते जाएँ तो भी सहृदय का चित्त विकल्प में पड़ जायेगा। इसीलिए नाटक के देश, काल और वस्तु में यथासंभव कम अन्तर होना आवश्यक है। दीर्घकाल का कौशल दिखाने के लिए नाटककार को कौशल से काम लेना चाहिए।'[2] स्पष्टतः देश-काल और वातावरण की समुचित भावानुसारिणी योजना से प्रेक्षक-पाठक को रस-ग्रहण में सुविधा हो जाती है और रसानुभूति में व्यवधान के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता।

उद्देश्य और रस

भारतीय आचार्यों की दृष्टि में नाटक का अन्तिम लक्ष्य दर्शक को रसानुभूति कराना है। वही नाटक का लक्ष्य-तत्त्व है एवं उसी की सिद्धि के लिए अन्य तत्त्वों का विधान है – रस साध्य है एवं अन्य तत्त्व उसकी सिद्धि का माध्यम मात्र हैं। इसी दृष्टि से रस को नाट्य की आत्मा माना गया है। प्राचीन भारतीय आचार्यों के इस मत का स्वीकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन शब्दों में किया है, 'और सही बात यह है कि अन्यान्य साहित्यांगों की भाँति नाटक का चरम लक्ष्य वही परम मंगलमय ऐक्यानुभूति है, जिससे वह पशु-सामान्य प्रवृत्तियों से ऊपर उठता है और प्राणि-मात्र के सुख-दुःख को अपना समझ सकता है।'[3] जैसा कि डॉ० सिद्धनाथ कुमार ने लिखा है, 'नाटक

---

१. नाट्य-शास्त्र, १।१७ पर अभिनवभारती
२. साहित्य-सहचर, पृ० १२१
३. वही, पृ० १२५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

का अन्तिम लक्ष्य दर्शक-पाठक है,'[1] और उसकी दृष्टि से प्रत्येक नाटक से किसी सुनिश्चित प्रभाव की अपेक्षा रहती है, जिसे हम रस कह सकते हैं। इस विन्दु से रसानन्द ही नाटक का एकमात्र लक्ष्य है, किन्तु इसके साथ लेखक के कथ्य एवं संदेश का समाहार भी उद्देश्य के अन्तर्गत है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, 'नाटककार का उद्देश्य समझना उपन्यासकार के उद्देश्य के समान सरल नहीं है।'[2] इसका कारण यह है कि नाटककार स्वयं अपना मत व्यक्त नहीं कर सकता। उसे अपने कथ्य को ध्वनित रूप में पाठकों-प्रेक्षकों तक सम्प्रेषित करना पड़ता है और अपने इस धरातल पर उसका यह कथ्य भी रस से अभिन्न हो जाता है।

रंग-दृष्टि और रस

नाटक के संदर्भ में रंग-संकेत, अभिनेयता या रंग-दृष्टि पर इधर अतिरिक्त वल दिया जाने लगा है। इस का प्रधान कारण यह है कि नाटक मूलत: दृष्य काव्य है। यहाँ इस ओर संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि दृश्य के साथ वह काव्य भी है, अत: इसके दृश्यत्व एवं काव्यत्व में संतुलन अपेक्षित है। नाटक में अभिनय की अनिवार्यता से इनकार नहीं किया जा सकता, न प्राचीन भारतीय आचार्यों ने किया ही है, किन्तु यदि वही मुख्य हो जाये और उससे दर्शक को रसानुभूति न हो तो वह अर्थहीन हो जायेगा। इस ओर संकेत करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उचित ही लिखा है—'अभिनय' शब्द का अर्थ वह 'क्रिया' है जो दर्शक को रसानुभूति की ओर ले जाए। रंगमंच की सजावट, पात्रों की बातचीत, उनका वेश-विन्यास आदि सभी बातें रसानुभूति की सहायिका हैं। परन्तु यदि ये ही प्रधान हो उठें और रसानुभूति गौण हो जाए तो ये दोष हो जायेंगी। रंगमंच के अत्यधिक यथार्थवादी वनाने के प्रयासी इस बात को भूल जाते हैं।'[3]

प्राचीन भारतीय नाट्य-विवेचकों ने अभिनय के महत्त्व को स्वीकार कर उसके मुख्य चार भेद माने और उनकी रसानुकूलता का आख्यान किया। आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक—ये चतुर्विध अभिनय रसाश्रयी हैं। आंगिक अभिनय में अभिनेता की शारीरिक चेष्टाएँ, वाचिक में संवादों की भावानुरूपिणी अदायगी और मन:स्थिति से जुड़ी भाषा, आहार्य में परिस्थिति एवं मन:स्थिति के अनुरूप वेश-विन्यास तथा सात्त्विक में मनोभावों का समावेश है। भरतमुनि ने आंगिक अभिनय के अन्तर्गत दृष्टि-अभिनय का जो विवेचन किया है, वह विशेष रूप से नाना भाव रसाश्रित है। इस संदर्भ में उन्होंने जिन ३६ दृष्टियों का विवेचन किया है, उनमें आठ रस-दृष्टियाँ हैं, आठ स्थायिभाव दृष्टियाँ हैं तथा बीस संचारिणी दृष्टियाँ हैं।[4] यों, आंगिक अभिनय से सम्वद्ध

---

१. प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन, पृ० ६६
२. साहित्य-सहचर, पृ० १२४
३. वही, पृ० ११४
४. विस्तार के लिए देखिए : नाट्य-शास्त्र का आठवाँ अध्याय

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अन्यान्य अंगों के प्रसंग में भी उन्होंने रस का उल्लेख किया है।[1] वाचिक एवं आहार्य अभिनय की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। सात्त्विक अभिनय में तो नाट्य प्रतिष्ठित ही है—'नाट्यं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्'।[2] अभिनेता की वास्तविक परीक्षा सात्त्विक अभिनय में ही होती है। अमूर्त भावों को प्रत्यक्षीकृत करना किसी सधे अभिनेता का ही काम होता है। स्पष्टतः रस-भाव-विहीन अभिनय की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि रंग-विधान का सारा प्रयास अमूर्त रस को मूर्त करने का—दर्शक को रसानुभूति कराने का ही होता है और इसी में उसकी सफलता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रसेतर अन्य नाट्य-तत्त्वों में रस का स्पष्ट आधार है और उनकी सार्थकता सामाजिक को रसानुभूति कराने में ही है। नाट्य का समग्र विधान इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए होता है। तत्त्व शब्द की व्युत्पत्ति है—तनोति सर्वम् इति तत् तस्य भावः तत्त्वम् अर्थात् जो भाव रचना में आद्यन्त व्याप्त हो, वह तत्त्व कहलाता है। इस व्युत्पत्ति की दृष्टि से रस नाटक का सर्वातिशायी तत्त्व है क्योंकि अन्य सभी तत्त्वों में इसी का आधार अपेक्षित है। रस-सिद्धि से ही कोई नाटक महान् बनता है और उसकी उपेक्षा से अन्य अर्थहीन हो जाता है।

५. पाश्चात्य नाट्यालोचन की रसपरक व्याख्या

(क) त्रासदी-कामदी विषयक विचार और भारतीय रस-कल्पना

रस-कल्पना का सम्बन्ध मूलतः भारतीय नाट्य-चिन्तन से है, अतः पाश्चात्य नाट्यालोचन के सन्दर्भ में रस-चर्चा कुछ विचित्र लग सकती है, क्योंकि वहाँ रस का वह शास्त्रीय विवेचन सुलभ नहीं है जो हमारे यहाँ है, किन्तु रस के व्यापक और सामान्य अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि पश्चिमी नाट्यालोचन के कुछ प्रसंगों का भारतीय रस-सिद्धान्त से पर्याप्त साम्य है। आधुनिकयुगीन रस-चिन्तकों में डॉ० नगेन्द्र, डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, डॉ० गणपति-चन्द्र गुप्त, डॉ० निर्मला जैन आदि ने इस साम्य-वैषम्य पर विस्तारपूर्वक विचार किया है, अतः हम यहाँ पाश्चात्य नाट्यालोचन के रसपरक सन्दर्भों का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे। पश्चिमी शास्त्र-चिन्तकों ने नाट्य के दो प्रमुख भेद—त्रासदी और कामदी स्वीकार कर इनके विवेचन-प्रसंग में जिन मनोभावों या इनसे सम्बद्ध सिद्धान्तों का उल्लेख अथवा विश्लेषण किया है, उनकी रसपरक व्याख्या की जाती रही है, की जा सकती है—और इस व्याख्या का आधार है, काव्यास्वाद एवं काव्य का भाव-विभाव-पक्ष।[3]

---

१. देखिए : नाट्य-शास्त्र, अष्टक अध्याय

२. नाट्य-शास्त्र, २२।१

३. द्रष्टव्य—अरस्तू का काव्य-शास्त्र, भूमिका (डा० नगेन्द्र), पृ० १५५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पश्चिमी नाट्यलोचन के आद्याचार्य अरस्तू के शब्दों में, 'त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य-व्यापार के रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।'[1] स्पष्टतः 'त्रासदी का उद्देश्य करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन है—और 'विरेचन' के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। परवर्ती व्याख्याताओं ने इस शब्द के प्रायः धर्मपरक, नीतिपरक और कलापरक अर्थ ग्रहण किए। इन अर्थों पर विचार करने के उपरान्त डॉ० नगेन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विरेचन का सम्बन्ध मनःशान्ति, विशदता या राहत से है,[2] साथ ही 'अरस्तू-प्रतिपादित त्रासद प्रभाव का भारतीय काव्य-शास्त्र के करुण रस से पर्याप्त साम्य है।'[3] डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने इस सन्दर्भ में भारतीय दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण विभेद का भी उल्लेख किया है : 'जहाँ दुखांतकी में करुण और त्रास का समन्वय माना जाता है, वहाँ करुण में भी शोक के द्वारा करुणा तथा बन्धुत्व-विनाश, वध आदि के द्वारा त्रास की योजना करते हुए भी भयानक को पृथक् रूप से रस मान लिया गया है। हमारे यहाँ शोक को यूरोप के समान मिश्र-भाव न मानकर, भय को उससे अलग करके भी उसके सहायक और संचारी के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। वह पृथक् भी रह सकता है और करुण का संचार भी हो सकता है।'[4] यों, इस अन्तर से डॉ० नगेन्द्र भी अपरिचित नहीं हैं—उन्होंने भी इस मौलिक अन्तर का उल्लेख कर इसके लिए दोनों सिद्धान्तों के व्याख्याता आचार्यों के देश-काल और तज्जन्य संस्कारों को उत्तरदायी ठहराया है।[5]

त्रासदी के आधारभूत मनोवेगों के रूप में अरस्तू ने जहाँ करुणा और त्रास का स्पष्ट उल्लेख किया है, वहाँ कामदी या प्रहसन के सन्दर्भ में वे हास को भी मान्यता देते प्रतीत होते हैं—कामदी में 'अभिदृश्य तत्वों की उपस्थिति उन्हें स्वीकार्य है।[6] यों, 'भाषण-शास्त्र' में अरस्तू ने अन्य मनोवेगों का भी उल्लेख किया है,[7] जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे काव्य के भाव-विभाव-पक्ष से परिचित अवश्य थे।

अरस्तू की त्रासदी और कामदी विषयक इन मान्यताओं का विकास अथवा पल्लवन परवर्ती पाश्चात्य नाट्यलोचन में दिखाई देता है, किन्तु इनसे सम्बद्ध आधार-

---

१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, पृ० १९
२. वही, भूमिका (डॉ० नगेन्द्र), पृ० ९२
३. वही, भूमिका (डा० नगेन्द्र) पृ० ९३
४. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० २४९
५. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, भूमिका (डॉ० नगेन्द्र), पृ० ९३-९४
६. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, १५, १७
७. वही, भूमिका-भाग, पृ० १५६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भूत मनोवेगों के विषय में कोई विभेद दिखाई नहीं पड़ता। त्रासदी के सन्दर्भ में हीगेल और कामदी के सन्दर्भ में वर्गसाँ के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। वर्गसाँ के मतानुसार 'सुखान्त नाटकों में हास्य तीन तथ्यों पर निर्भर रहता है; हँसने वाले में सहानुभूति की कमी, जो हास्य का विषय है उसमें सामाजिक साहचर्य की अयोग्यता तथा नाटक में समाविष्ट सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था में जीवन्त उपकरणों का अभाव और यन्त्रवत् आचरण की प्रवृत्ति।'[१] वर्गसाँ ने कामदी का प्रभाव सुधारात्मक स्वीकार किया है,[२] किन्तु कतिपय अन्य नाट्यालोचकों ने त्रासदी के समान कामदी का उद्देश्य भी चित्त का परिशोधन माना है।[3]

जिस प्रकार भारतीय काव्य-शास्त्र में विभिन्न रूपक-भेदों के सन्दर्भ में अलग-अलग रसों की सिद्धि का निर्देश किया गया है तथा नाटक से मिलने वाले आस्वाद को ही नाटक का अन्तिम लक्ष्य माना गया है, उसी प्रकार पश्चिमी नाट्यालोचकों में निकल ने त्रासदी और कामदी के विभेदक तत्त्व के रूप में दर्शकीय आस्वाद को महत्त्व दिया है।[४] प्रभावान्विति का सिद्धान्त भी यद्यपि प्राचीन क्रियान्विति के सिद्धान्त से जुड़ा है तथापि इसका बल उस नाट्य-प्रभाव पर है जो सम्पूर्ण नाटक के द्वारा प्रेक्षक ग्रहण करता है।[५] निकल ने इस ओर भी संकेत किया है कि जिस नाट्य-प्रभाव को नाटककार प्रेक्षकों तक संप्रेषित करना चाहता है, उसके लिए वह किसी एक ही मनोवेग का चित्रण करे, यह आवश्यक नहीं। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए वह विभिन्न मनो-

१. भारतीय नाट्य-साहित्य, सं० डॉ० नगेन्द्र (यूरोपीय नाट्य-शास्त्र का विकास, डॉ० राम अवध द्विवेदी), पृ० १३५

2. The function of comedy is corrective.
—Literary Criticism—A short History, Wimsatt & Brooks, p. 569

3. Comedy is an imitation of an action that is ludicrous and imperfect···through pleasure and laughter effecting the purgation of the like emotions.

I bid, p. 46

4. Tragedy and comedy are to be defined accordlng to the impression which the dramatist wishes each to have on the assembled audiencc in the theatre.

—The Theory of Drama, Nicoll, p. 87

5. The unity of impression is, of course, closely linked to the ancient unity of action, but places essential stress, not on the creative process involved in the construction of the play, but on the effect which the whole drama will have on an average audiience.
—Ibid, p. 56

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

वेगों का उपयोग कर सकता है।[1] निकल के इस कथन के समानान्तर भारतीय आचार्यों की अंग और अंगी रसों की कल्पना एवं भाव-सन्धि, भाव शबलता आदि की अवधारणाओं को रखकर देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि पाश्चात्य नाट्यालोचन में भी दर्शकीय आस्वाद अथवा रसानुभूति का किसी-न-किसी रूप में स्वीकार अवश्य है। इसी प्रकार त्रासदी-कामदी के सन्दर्भ में कुछ मूल मनोविकारों का उल्लेख भी वहाँ हुआ है, किन्तु इस विषय का भारतीय काव्य-शास्त्र के समान गहन, दार्शनिक, व्यापक और सर्वांगपूर्ण विवेचन वहाँ दुष्प्राप्य है।

(ख) पाश्चात्य काव्य-वाद और भारतीय रस-दृष्टि

पाश्चात्य साहित्य-सृजन विविधि काव्यान्दोलनों एवं काव्यवादों से प्रभावित रहा है। वहाँ का नाट्य-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। अन्यान्य काव्य-वादों के घोषणा-पत्र एवं सुगठित आन्दोलन अधिसंख्य पश्चिमी साहित्यकारों के दिशा-निर्देशक बने हैं, फलतः वहाँ साहित्यिक कृतियाँ प्रायः काव्यवादों के परिप्रेक्ष्य में ही देखी जाती है। इधर, हिन्दी-नाट्यालोचन में भी यह प्रवृत्ति बल पकड़ रही है। अब हिन्दी-नाटकों का मूल्यांकन-विश्लेषण भी आदर्शवाद, यथार्थवाद, स्वच्छन्दतावाद, अस्तित्ववाद, प्रतीकवाद आदि के परिप्रेक्ष्य में होने लगा है और हिन्दी-नाटकों में विविध पाश्चात्य काव्यवादों की प्रतिच्छाया झिलमिलाती दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में, विभिन्न पाश्चात्य काव्यवादों की मूल संकल्पनाओं के संक्षिप्त उल्लेख के बाद रस से उनके विरोधाविरोध का विवेचन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हो गया है।

पाश्चात्य काव्य-दृष्टि का मूल संघर्ष आभिजात्यवाद और स्वच्छन्दतावाद को लेकर है। आभिजात्यवाद कलात्मक संयम पर बल देता है। यह कलात्मक संयम चित्त-वृत्तियों के सन्तुलन और परिष्कार की आधार-भूमि पर ही प्रतिफलित होता है। विवेक और औचित्य इस सन्तुलन को जंन्म देता है, अतः आभिजात्यवादी विवेक, संयम और नीति से परिचालित रहे हैं। भावोच्छवास की उन्मुक्त अभिव्यंजना स्वच्छन्दतावादियों का प्राप्य है। रम्याद्भुत के प्रति आकर्षण एवं किसी सुदूरागत रोमानी वायवी भावधारा का तरल स्पर्श उन्हें विशेष आन्दोलित करता है। स्पष्टतः ये दोनों दृष्टियाँ भी अनुभूति अथवा रस को ही केन्द्र में रखकर चली हैं। प्रथम में अनुभूति का विवेकाश्रित रूपायन इष्ट है तो दूसरी के अनुसार सहज अन्तःस्फूर्त अनुभूतियों की निर्बन्ध अभिव्यक्ति। वस्तुतः जो अनुभूति आज कवि-प्रतिभा की आवेगमयी उन्मुक्त अभिव्यक्ति से परि-

---

1. Drama must be excessively concentrated, and this very concentration demands the securing of a untiy of impression. On the other hand, by unity of impression is not necessarily implied mere monotony and sameness of emotion for the unified impression as such may be gained by means of utilization of variety of emotions. —The Theory of Drama, Nicall pp. 56-57

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

चालित दिखाई देती है, वह कालान्तर में नियम, रीति और विवेक से नियंत्रित होकर 'क्लासिकीय' अस्तित्व ग्रहण कर लेती है। अतः यह स्पष्ट है कि परम्परा एवं मर्यादा से प्रेरित आभिजात्यवादी दृष्टि जहाँ मूल भाव-वृत्तियों को ही रसास्वाद का विषय बनाकर उसके स्वच्छन्द विस्तार एवं अन्तःमिश्रण का निषेध करती है वहाँ स्वच्छन्दतावाद में इन वृत्तियों के मिश्रण एवं संश्लेषण से भावों के विस्तार के लिए मार्ग प्रशस्त होता है। यूनानी आभिजात्यवादियों ने सुखान्तिकी और दुःखान्तिकी के मध्य पार्थक्य की एक सुनिश्चित सीमा-रेखा खींच दी थी किन्तु शेक्सपीयर जैसे स्वच्छन्दतावादी नाटककार इस मर्यादित दृष्टि का अतिक्रमण कर नये काव्य-रूपों की उद्भावनाओं की ओर प्रवृत्त हुए। सुखान्तिकी में त्रासद-तत्त्वों का मिश्रण हुआ और दुःखान्तिकी में कामद-तत्त्वों के मिश्रण से त्रासद-तत्त्वों को घनीभूत किया गया है। स्पष्टतः भावों के विस्तार के लिए इसमें विशेष अवकाश रहा।

आभिजात्यवाद और स्वच्छन्दतावाद के समान यथार्थवाद और आदर्शवाद की धारणाएँ भी परस्पर पूरक रही हैं यथार्थवादी पदार्थ को और आदर्शवादी मनस्तत्त्व को आधार मानकर चलता है। प्रथम की दृष्टि वस्तुपरक और द्वितीय की आत्मपरक है। यथार्थवादी जीवन के वस्तुगत चित्रण पर बल देकर सामाजिक यथार्थ का बाह्य चित्रण करता है। आदर्शवादी वस्तु को भावना का संस्पर्श देकर अपने निजी स्वभाव, कल्पना और मानसिकता से अनुरंजित और चित्रित करता है, किन्तु वस्तुगत चित्रण भी तथ्यात्मक विवरणों का आलेखन मात्र नहीं है। उस चित्रण के मूल में भी स्रष्टा की मानसिकता का अनिवार्य योग रहता है। बाह्य परिवेश एवं युगबोध के परिवर्तन के साथ वस्तु की आन्तरिक संरचना स्वयं प्रभावित होती है, अतः अनुभूति का प्रच्छन्न संस्पर्श वस्तुगत बाह्य चित्रण को प्रमाता के स्तर पर ग्राह्य बनाता है जो मूलतः रसवाद का ही जय-घोष है। इसी प्रकार कलाकार भी नितान्त शून्य में सृष्टि नहीं रचता। उसका प्रत्ययबोध और आत्मपरक भाव-निरूपण भी बाहरी परिवेश का ही उपजीवी होता है। परिवेश का छोटे-से-छोटा स्पन्दन उसके आत्मकेन्द्र को आन्दोलित करता है। जो कलाकार परिवेश के इस आन्दोलन के प्रति जितना जागरूक एवं सृजनशील रहता है उसकी काव्यानुभूति की संरचना उतनी ही विराट् एवं व्यापक रहती है।

अभिव्यंजनावाद पश्चिमी काव्यवादों में पर्याप्त चर्चित और विश्लेषित रहा है। भारतीय वक्रोक्तिवाद के साथ इसके तुलनात्मक-परीक्षण के अनेक प्रयास हुए, जिनके आधार पर वस्तु-तत्त्व का निषेध कर मात्र अभिव्यंजना पर बल देने वाले सिद्धान्त के रूप में इसकी प्रतिष्ठा हुई। क्रोचे के अनुसार कला का सम्बन्ध सहजानुभूति से है। यह सहजानुभूति पदार्थ-बोध एवं संवेदनों के अनुरूप स्पन्दन से भिन्न एक अभिव्यंजना-व्यापार है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'सौन्दर्य के सृजन में अभिव्यक्ति का भावतत्व में योग नहीं किया जाता वरन्···भावतत्व ही अभिव्यंजना के रूप में प्रकट हो जाता है जो अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होता है। अतएव सौन्दर्य अभिव्यंजना का नाम

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

है—इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'[1] स्पष्ट है कि अभिव्यंजनावाद भावना का निषेध नहीं करता, किन्तु अभिव्यक्ति को विशेष महत्त्व देता है।

अभिव्यंजनावाद के अतिरिक्त बिम्बवाद भी अनुभूति की उपेक्षा कर अभिव्यक्ति को केन्द्र में रखकर चला है, किन्तु बिम्ब केवल चित्र-काव्य नहीं है। डॉ० नगेन्द्र का कथन युक्तियुक्त ही है कि 'काव्य-बिम्ब का प्रेरक तत्व है भाव। भाव के संस्पर्श के बिना काव्य-बिम्ब का अस्तित्व संभव नहीं है।···सर्जनात्मक कल्पना काव्य-बिम्ब का कारण-तत्व है और ऐन्द्रिय अनुभव इसके मूल उपकरण तत्व हैं।'[2] बिम्बवादी ह्यूम ने स्वच्छन्दतावादी जीवन-दर्शन और सूक्ष्म वायवी शैली का विरोध किया तथा काव्य में अस्पष्टता के स्थान पर ठोसपन को महत्त्व दिया। राग-स्पर्श और भाव की आर्द्रता के विरोध में बिम्बवाद ने वस्तु की सघनता, मूर्तता तथा विशुद्धता को प्रतिष्ठित किया किन्तु यह अतिवादी दृष्टिकोण पश्चिम में मान्य न हो सका। भाव-तारल्य से वंचित बिम्ब की कल्पना संभव नहीं है। बिम्ब को सम्पूर्णतया चित्र-काव्य में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता, उसमें भाव-दीप्ति आवश्यक है। स्वयं लीविस ने भावार्द्रता को बिम्ब का अनिवार्य गुण माना है।

पाश्चात्य काव्यावधारणाओं में अतियथार्थवाद और चेतनाप्रवाहवाद मानव की अन्तःसंज्ञा में प्रतिबद्ध भाव-खण्डों में आन्तरिक-अन्विति की खोज करते हैं। तार्किक अनुक्रम तथा बाह्य वस्तु-श्रृंखला की उपेक्षा कर अनुभूतियों के आन्तरिक तारतम्य को इन काव्यवादों ने अपना लक्ष्य बनाया है। अचेतन अथवा उपचेतन मन की असंगत कल्पनाओं, स्वप्नों, दिवा-स्वप्नों को ये अपना विषय बनाते हैं। स्पष्टतः ये वाद कवि की अन्तश्चेतना को साग्रह स्वीकृति प्रदान करते हैं। इनका स्वरूप एवं प्रक्रिया विवाद का विषय हो सकते हैं किन्तु अनुभूति की जटिलता की सहज स्वीकृति इन्हें रसवाद के अविरोध में खड़ा कर देती है। विविध रसों के परस्पर विनिमय और मिश्रण में जो भाव-पद्धति क्रियाशील रहती है, वह बहुत कुछ चेतना-प्रवाही पद्धति से अभिन्न है।

अस्तित्ववाद एक दार्शनिक अवधारणा है किन्तु आधुनिक काव्य-चिन्तन को इसने काफ़ी सीमा तक प्रभावित किया है। अस्तित्ववाद अस्तित्व को सार से पूर्ववर्ती मानता है। अस्तित्व से आशय मानव की मूल प्रकृति से है, जबकि सार से आशय उसकी उन समग्र निष्ठाओं, आस्थाओं और जागतिक क्रिया-कलापों से है जो उसकी जीवन-पद्धति को निर्धारित करते हैं। मानव की मूल प्रकृति और उसकी जीवन-पद्धति को निर्धारित करने वाली आस्थाओं के संघर्ष में अनास्था का जन्म होता है और मानव-मूल्य विघटित होते हैं। अनास्था, मोह-भंग तथा मानव मूल्यों का विघटन अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन का स्वरूप निर्धारित करते हैं, परम्परित जीवनादर्शों के स्थान पर नए मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं। इस प्रकार विद्रोह, अनास्था और विक्षोभ का यह दर्शन

१. रस-सिद्धान्त (द्वितीय संस्करण), पृ० ३३८
२. काव्य-बिम्ब, पृ० ६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भी अनुभूति का तिरस्कार नहीं कर सका है। यही नहीं विद्रोह, विक्षोभ और व्यंग्य के माध्यम से अनुभूति-क्षेत्र के नए आयाम भी उद्‌घाटित हुए हैं। अस्तु, पाश्चात्य काव्य-मूल्य और काव्यवाद किसी भी रूप में जहाँ अनुभूति के नए क्षितिज अनावृत्त करते दृष्टिगत होते हैं, वहाँ प्रकारान्तर से वे रसवाद को ही नए रूप में आलोकित एवं परिभाषित करते हैं।

६. नाट्य-साहित्य के मूल्यांकन में रस का महत्त्व एवं निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक का रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय आचार्यों ने ही नहीं, पाश्चात्य नाट्यालोचकों ने भी किसी-न-किसी रूप में नाट्य के संदर्भ में रस को स्वीकृति प्रदान की है। हम यह भी देख चुके हैं कि रसेतर अन्य नाट्य-तत्त्वों का उद्देश्य रस-सिद्धि ही है। रस-भाव-विहीन नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि नाट्य का समग्र विधान इसी हेतु होता है। नाटक में दर्शक का महत्त्व सर्वोपरि है, यह एक सर्वमान्य तथ्य है—और प्रेक्षक आनन्द प्राप्ति या रस-ग्रहण के लिए ही रंगशाला में जाता है। आस्वादन का यह बिन्दु रस के मूल्यांकन से भी जुड़ा है। जो नाटक जितना सरस होगा, प्रेक्षकों के चित्त को द्रुत करने की जितनी अधिक क्षमता होगी, वह उतना ही मूल्यवान् माना जायेगा। नाटक का प्रथम वास्तविक समीक्षक वस्तुतः प्रेक्षक ही होता है। यदि नाट्य-प्रेक्षण से उसे रसानुभूति होती है तो वह तल्लीन होकर उसका प्रेक्षण करता है अन्यथा रंगशाला से उठ जाता है और दर्शक-विहीन रंगशाला नाटक की असफलता का स्वयं उद्‌घोष करने लगती है। यदि कोई नाटक अपेक्षित प्रभाव की सृष्टि नहीं कर पाता तो वह भी असफल ही माना जाता है, क्योंकि उससे रस में व्याघात उपस्थित होता है और करुण आदि रसों की प्रतीति भी हास्य-रूप में होने लगती है। नाटककार तथा अभिनेताओं का कौशल इसी में है कि नाट्य से अपेक्षित प्रभाव की सृष्टि हो और दर्शक उससे रसास्वाद प्राप्त करें।

नाट्य-साहित्य के मूल्यांकन में रस के महत्त्व का रेखांकन प्रायः सभी मूर्द्धन्य आलोचकों ने किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि 'यदि कवि के वर्णन से या नाटक के अभिनय से हम रस तक नही पहुँच सके तो वह काव्य और वह नाटक व्यर्थ है।'[१] डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, 'शास्त्र-रूढ़ियों से मुक्त रस-सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विकासशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के सर्जनात्मक साहित्य का, सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का, उचित मूल्यांकन किया जा सकता है।'[२] इसी प्रकार डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने भी रस की सामर्थ्य और व्यापक मूल्यांकन-क्षमता का उल्लेख इन

१. साहित्य-सहचर, पृ० १४९
२. रस-सिद्धान्त, पृ० ३५९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

शब्दों में किया है : 'यह सिद्धान्त मानववादी सिद्धान्त है, जिसमें नैतिकता, सामाजिकता भावुकता, बौद्धिकता और दर्शनादि का सम्यक् सम्मिश्रण पाया जाता है। रस-सिद्धान्त से अधिक व्यापक और उदार, तथा नित्य समीक्षा-सिद्धान्त जो काव्य की अन्तरात्मा को पहचान सके, अभी तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका है।'[1] नाट्य की वास्तविक सफलता सामाजिक को रसानुभूति करा देने में ही है, इस ओर संकेत करते हुए डॉ० ज्ञानसिंह मान ने ठीक ही लिखा है : 'यदि सम्पूर्ण नाटक के अभिनय के उपरान्त नाटककार उस रसात्मकता को सहृदय प्रेक्षक के हृदय में निष्पन्न करवाने में समर्थ हो जाता है, यदि उस की सम्प्रेषण-शक्ति अपनी चरम सार्थकता प्रमाणित कर पाती है तो यही नाटक तथा उसके अभिनय की सफलता है।'[2] स्पष्टतः रस काव्य (नाट्य) के मूल्यांकन का सर्वाधिक शक्तिशाली और सर्वप्रमुख प्रतिमान है। अन्य सभी प्रतिमान रस की तुलना में न केवल एकांगी और संकीर्ण हैं, वरन् किसी-न-किसी बिन्दु पर उससे जुड़े भी हैं। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि रस—कल्पनात्मक भाव और उसका आस्वाद नाट्य का अनिवार्य तत्त्व है। आज भी, आधुनिक नाट्य के संदर्भ में भी, उस की उपयोगिता और महत्ता समाप्त नहीं हुई है। भाव और भावस्वाद पर आधृत होने से यह काव्य-प्रतिमान तब तक जीवित रहेगा, जब तक काव्य (नाट्य) जीवित है।

□

---

१ रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ४४६

२. नाट्यवृत्ति और सम्प्रेषण, पृ० ७७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

२ | प्रसादोत्तर नाटककार और रस-सिद्धान्त

१. पूर्वपीठिका : आधुनिक हिन्दी नाटक का उदय—प्रेरक शक्तियाँ और प्रभाव

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने आधुनिक काल का प्रारम्भ विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी से माना है। यह काल जहाँ एक ओर राजनीतिक-सामाजिक आन्दोलनों से विक्षुब्ध रहा, वहाँ दूसरी ओर पाश्चात्य जीवन और साहित्य के सम्पर्क-संघर्ष से नयी समस्याओं, नयी विचार-धाराओं और नयी जीवन-पद्धतियों ने भी भारतीय जन-मानस को कम आन्दोलित नहीं किया। सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम ने जिस राष्ट्रीय जागरण तथा सामाजिक संचेतना को उद्बुद्ध किया उससे रीतिकालीन मानसिकता को प्रवल झटका लगा। भारतीय नवीन मूल्यों और नवीन पद्धतियों की ओर अग्रसर हुए। साहित्य की विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-प्रणाली और रूप-विधान में परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। पाश्चात्य औद्योगिकता का प्रभाव और प्रतिक्रिया, धर्म में बौद्धिकता और मानववादी दृष्टिकोण का प्रवेश इस युग के साहित्य को प्रभावित करने वाले तत्त्व सिद्ध हुए। पाश्चात्य जीवन और साहित्य की अनेक धाराओं ने भी हिन्दी-साहित्य की अन्तश्चेतना को प्रभावित किया। पुनर्जागरण के फलस्वरूप देशभक्ति की भावना प्रगाढ़ हुई तथा सुधार और आन्दोलनों का ज़ोर बढ़ा जिनका सर्वाधिक प्रतिफलन नाट्य-साहित्य में दिखाई देता है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि आधुनिक साहित्य का विकास मूलतः जिस गद्य-युग के रूप में हुआ उसके प्रवर्तन का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नाटक को ही दिया है।[1] वस्तुतः नवोत्थानकालीन चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय चेतना को केन्द्र में रखकर जिस रूप में हुई, नाटक ही उसके लिए विशेष उपयुक्त माध्यम सिद्ध हुआ। सामन्तवादी परिवेश से मुक्त होकर, लोक-चेतना का प्रथम स्पर्श पाकर

---

१. विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य-परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।

—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हिन्दी का पाठक एक ऐसे माध्यम की ओर स्वाभाविक रूप से उन्मुख हुआ जो श्रव्य और दृश्य के समन्वित गुणों के कारण लोक-हृदय को अधिक सरलता से आन्दोलित कर सकता था। नाटक के रूप में आधुनिक हिन्दी-गद्य-परम्परा का प्रवर्तन आचार्य शुक्ल को विलक्षण प्रतीत हुआ है, किन्तु लोक-चेतना के प्रथम उन्मेष की पृष्ठभूमि में यह सहज-स्वाभाविक है। आधुनिक हिन्दी नाट्य-लेखन को छापेख़ाने की सुविधा, गद्य के विकास और अंग्रेजों द्वारा अपने मनोरंजन के लिए बड़े-बड़े नगरों में स्थापित प्रेक्षागृहों से भी प्रोत्साहन मिला है।[1]

भारतेन्दु से पूर्व रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह विरचित आनन्द रघुनन्दन नाटक तथा भारतेन्दु के पिता गिरिधर दास लिखित 'नहुष' नाटक उपलब्ध हैं और ये हिन्दी के प्रथम नाटक के रूप में चर्चित-उल्लिखित भी हैं,[2] तथापि आधुनिक हिन्दी-नाट्य-लेखन की अजस्र परम्परा का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही होता है। आधुनिकता के लिए जिस बौद्धिक सजगता और सप्रश्न दृष्टि की अपेक्षा है, वह वस्तुतः भारतेन्दु-काल से ही विकसित होने लगी थी। निःसन्देह आधुनिक परम्परा के नाट्य-लेखन एवं चिन्तन के अभ्युदय का श्रेय भारतेन्दु युग को ही है। इस युग में नाट्य-साहित्य और रंग-मंच की परम्परा का प्रचलन तो हुआ ही, संस्कृत की नाट्य-शास्त्रीय परम्परा और पाश्चात्य नाट्य-चिन्तन के आलोक में, एक सीमा तक, हिन्दी के अपने नाट्य-शास्त्र का निर्माण भी हुआ। पौरस्त्य और पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों का अन्धानुकरण न कर, युगीन परिस्थितियों के अनुरूप, भारतेन्दु ने उनमें समन्वय स्थापित करते हुए कतिपय मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय[3], डॉ० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल,[4] डॉ० शान्ति मलिक[5] आदि ने इसी तथ्य की पुष्टि की है। इस मत की पुष्टि भारतेन्दु के रस-विषयक विचारों का अध्ययन करने से ही हो जाती है कि वे नाटक के संदर्भ में पाश्चात्य दृष्टिकोण को, एक सीमा तक स्वीकार करने पर भी, भारतीय दृष्टि की अवहेलना नहीं करते।

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० २०१

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३१८), बाबू गुलाबराय (हिन्दी नाट्य विमर्श, पृ० ७६), बाबू ब्रजरत्नदास (हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ० ५९), एवं डॉ० भानुदेव शुक्ल (भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ० ९) ने 'आनन्द रघुनन्दन' को ही हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। महाराज विश्वनाथ के व्यक्तित्व और कृतित्व पर शोधकार्य करने वाले डॉ० गोविन्द लाल छाबड़ा ने तो इस मत का साग्रह समर्थन करने के लिए ही 'हिन्दी के प्रथम नाटककार महाराज विश्वनाथ सिंह : व्यक्तित्व और कृतित्व' शीर्षक से अपना प्रबन्ध प्रकाशित करवाया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ७५२) अपने पिता के 'नहुष' नाटक को ही हिन्दी का प्रथम नाटक मानने के पक्ष में हैं। कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने भी इसी मत का समर्थन किया है (दे० मध्यकालीन नाट्य-परम्परा, पृ० १०७)।

३. श्री चन्द्रावली नाटिका, भूमिका (डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), पृ० ११

४. भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य, पृ० ४८

५. हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास, पृ० ५१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रसादपूर्व नाटककारों की रस-विषयक अवधारणा

प्रसादपूर्व नाटककारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का स्थान अन्यतम है। वे नाटक में रस की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में कृति की रस-रिक्तता ही उसे महत्त्वपूर्ण बनाती है, भाषा नहीं। किसी रचना की ओर पाठक-दर्शक के आकर्षण का रहस्य मूलतः उसकी रसनीयता में ही है। इसी ओर संकेत करते हुए 'कर्पूरमंजरी' में पारिपार्श्विक कहता है—

जामैं रस कछु होत है पढ़त ताहि सब कोय।
बात अनूठी चाहिए, भाषा कोऊ होय ।। —पृ० २

इस तथ्य की शब्दान्तर से 'श्री चन्द्रावली नाटिका' में भी आवृत्ति हुई है—

भरति नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अलौकिक घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर।। —पृ० ३

जिस प्रकार जल से परिपूर्ण बादलों को देखकर मोर नाचने लगते हैं उसी प्रकार नाटक में अलौकिक रस की समुपस्थिति से दर्शकों का मन-मयूर भी नृत्य करने लगता है। स्पष्टतः नाटकों में प्रेक्षकों की अभिरुचि रसोद्रेक के कारण ही है। सामाजिक रस-लाभ के लिए ही प्रेक्षागृह में जाते हैं, अन्यथा उनके वहाँ जाने का कोई अर्थ नहीं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' का सूत्रधार परोक्षतः इस ओर इंगित करते हुए कहता है: 'अहा', आज की संध्या भी धन्य है कि इतने गुणज्ञ और रसिक लोग एकत्र हैं और सबकी इच्छा है कि हिन्दी भाषा का कोई नवीन नाटक देखें। (दे० भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० २५५) नाट्यशाला में नाट्याभिनय के प्रेक्षण से सहृदय तल्लीनता और तन्मयीभाव को प्राप्त करता है। वस्तुतः तन्मयता का यह भाव नाटक ही नहीं, कला-मात्र का लक्ष्य है—इसी में संगीत, साहित्य आदि की सार्थकता और इतिकर्त्तव्यता है। इस तथ्य की ओर भारतेन्दु ने 'श्री चन्द्रावली नाटिका' में नायिका के अधोलिखित कथन द्वारा संकेत किया है—'...अहा! संगीत और साहित्य में भी कैसा गुन होता है कि मनुष्य तन्मय हो जाता है।' (पृ० ५३) भारतेन्दु जानते हैं कि कवि-वाणी की स्थिरता रस-निर्भर है, तभी तो 'विषस्य विषमौषधम्' में वे लिखते हैं—'कविवाणी थिर रस सौं रहे।' (पृ० ६) स्पष्टतः भारतेन्दु श्रव्य काव्य में ही नहीं, दृश्य काव्य में भी रस की सर्वोपरिता स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में, नाटक का प्रमुख उद्देश्य रस-सिद्धि है और किसी भी नाट्यकृति की सफलता इसी पर निर्भर करती है।

भारतेन्दु द्वारा नाटक में रस के महत्त्व का यह स्वीकार परम्परा-भिन्न नहीं है, किन्तु रस-संख्या के विषय में उन्होंने रूढ़ि-पालन की व्यर्थता की ओर संकेत किया है। परम्परा-प्राप्त रस-संख्यान की इयत्ता का निषेध करते हुए वे लिखते हैं—'वाह-वाह! रसों का मानना भी वेद के धर्म को मानना है कि जो लिखा है वही माना जाय और इसके अतिरिक्त करे तो पतित होय। रस ऐसी वस्तु है जो अनुभव सिद्ध

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

है। इसके मानने में प्राचीनों की कोई आवश्यकता नहीं, यदि अनुभव में आवे मानिए, न आवे न मानिए।'[1] स्पष्ट है कि भारतेन्दु रस को अनुभव-सिद्ध मानकर अनुभव के आधार पर रस-संख्या-विस्तार के पक्षपाती हैं। भारतेन्दु ने उक्त मत केवल सिद्धान्त-कथन के रूप में ही नहीं रखा, व्यावहारिक धरातल पर अनेक नवीन रसों का उल्लेख भी किया है। 'गीत गोविन्दानन्द' में 'गीत गोविन्द' के 'मंगलाचरण' पर विचार करते हुए भारतेन्दु ने प्रथित नौ रसों के अतिरिक्त तीन नीवन रसों—वात्सल्य, दास्य और माधुर्य का भी नामोल्लेख किया है।[2] उनके ग्रन्थ 'नाटक' का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे दास्य और भक्ति को तथा प्रेम और माधुर्य को अभिन्न मानते हैं।[3] अपनी इस कृति में रस-वर्णन करते हुए उन्होंने जिन चौदह रसों के नाम गिनाए हैं उनमें परम्परा-प्राप्त नवरसों के अतिरिक्त भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य और प्रमोद वा आनन्द नये रस हैं।[4] इन रसों में भक्ति और वात्सल्य रस-रूप में प्रायः स्वीकृत हो चुके हैं और प्रेम वा माधुर्य को उसी प्रकार भक्ति का भेद माना जा सकता है जैसे कि दास्य को। भक्ति के क्षेत्र में मधुरा-भक्ति का विशिष्ट स्थान है, अतः वैष्णव आचार्य-चेतनाओं ने भक्ति रस के भेदों में इसे सर्वप्रधान (भक्ति-रसराट्) माना है।[5] हाँ, इधर कुछ आचार्यों ने 'प्रेम रस' की एक व्यापक रस के रूप में स्वीकृति का सुझाव रखते हुए श्रृंगार, वात्सल्य, प्रेयान्, सख्य, प्रकृति-प्रेम, देशभक्ति आदि को इसी में अन्तर्भुक्त करने की बात कही है।[6] किन्तु, भारतेन्दु का दृष्टिकोण इतना व्यापक नहीं है। वे तो प्रेम रस को माधुर्य रस का ही पर्याय मानते हैं—अतः भारतेन्दु के संदर्भ में यही कहना युक्तिसंगत है कि उनके अभीष्ट प्रेम अथवा माधुर्य रस को भक्ति के मधुरा भेद में अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। प्रेम रस के प्रति उनका दृष्टि-कोण न तो आधुनिक मराठी रस-चिन्तकों के समान व्यापक है और न उनका तेवर उतना आक्रामक ही। भारतेन्दु द्वारा मान्य नवीन रसों में शेष रह जाते हैं दो रस—सख्य और प्रमोद वा आनन्द। जहाँ तक सख्य का प्रश्न है उसे श्रृंगार में अन्तर्भुक्त नहीं

१. कविवचन सुधा, जिल्द ३, संख्या २५, ५ जुलाई, १८७२ (आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास, डॉ० वेंकट शर्मा, पृ० १५६ से उद्धृत)
२. गीत गोविन्दानन्द, पृ० २
३. नाटक, पृ० ३५
४. 'अथ रस-वर्णन—श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, बीभत्स, शान्त, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनन्द।'—वही, पृ० ३५
५. (क) मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः ॥२॥
—उज्ज्वलनीलमणि, रूपगोस्वामी, पृ० ४
(ख) (हिन्दी) भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, पंचमी लहरी, कारिका ६६-६७, पृ० ३०६
६. देखिए—(क) रस-सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, पृ० २७१
(ख) अलंकारकौस्तुभ, पृ० १४७-४८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

किया जा सकता, वह स्वतन्त्र रस है। इस मत की अभिव्यक्ति भारतेन्दु ने इन शब्दों में की है,—'सख्य—इस रस को लोग शृंगार के अन्तर्गत करते हैं। हम उन लोगों से पूछते हैं कि जहाँ कृष्ण और अर्जुन का प्रसंग और इसी भाँति अनेक मित्रों की विपत्ति में मित्रों के संग देने के प्रसंग में शृंगार रस किस भाँति आवेगा क्योंकि शृंगार की स्थायी रति है और यहाँ मित्रता में रति का क्या कार्य है?'[1] स्पष्टतः मन्मथोद्भूत न होने के कारण मित्र-स्नेह को शृंगार में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता और इस दृष्टि से भारतेन्दु का मत पर्याप्त गंभीर है। प्राचीन आचार्यों में रुद्रट ने इसी प्रकार प्रेयान् रस की परिकल्पना कर उसकी स्वतन्त्र सत्ता का उद्घोष किया था।[2] प्रेयान् को आधुनिक शब्दावली में सख्य रस के रूप में विवेचित किया जा सकता है।

भारतेन्दु द्वारा उल्लिखित सख्य रस की स्वीकृति के लिए अभी भी अवकाश ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। हिन्दी के अधिकतर आचार्यों का ध्यान इस ओर नहीं गया है, किन्तु कुछ शास्त्र-चिन्तकों ने इस रस की स्वीकृति के पक्ष में अपना अभिमत दिया है। डॉ० वी० राघवन इस रस को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।[3] डॉ० सत्यदेव चौधरी यद्यपि इस रस की स्वीकृति के विषय में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में रहे हैं[4] तथापि अन्ततः वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'प्रेयान् को एक स्वतन्त्र रस ही मानना चाहिए।'[5] डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने यद्यपि सख्य के स्वतन्त्र रसत्व का पक्ष-समर्थन किया है तथापि अन्त में इसे वात्सल्य के अन्तर्गत स्थान देने की बात कह कर उन्होंने इस रस के साथ न्याय नहीं किया है।[6] हमारे विचार से, वर्तमान स्थिति में, प्रेयान् या सख्य को उन रसों से अलग मानना होगा जो अब स्वीकृत हो चुके हैं जैसे भक्ति या वात्सल्य आदि। मित्र-मित्र का प्रेम या भाई-भाई, भाई-बहिन या इसी प्रकार के अन्य सम्बन्धों के काव्यात्मक-दृश्यात्मक वर्णन इस रस की सीमा में आएँगे। स्पष्टतः प्रेयान् और वात्सल्य या प्रेयान् और भक्ति को एक ही प्रकृति का होने के कारण एक ही रस नहीं माना जा सकता। प्रेयान् (सख्य) के स्वतन्त्र रसत्व का निषेध करने के लिए जिन तर्कों का आधार-ग्रहण किया जाता है, वे सबल नहीं हैं—उनका सविस्तर खण्डन हम 'रस-संख्या : काव्यशास्त्रीय विश्लेषण' में कर चुके हैं।[7] वस्तुतः मित्रों का पारस्परिक स्नेह-भाव, दर्शन अथवा स्मृति आदि के द्वारा उद्बुद्ध, रोमांच, भुजक्षेप

---

१. कविवचन सुधा, जिल्द ३, संख्या २२, जुलाई ५, १८७२ (आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, डॉ० वेंकट शर्मा, पृ० १५६ से उद्धृत)।
२. देखिए—रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार, १५।१७-१९, पृ०४११
३. दे० दि नम्बर ऑफ़ रसज़, पृ० १२२-२३
४. 'रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार' (पृ० ४१६-१७) में डॉ० चौधरी ने प्रेयान् को 'भाव' के अन्तर्गत स्थान दिया है, किन्तु 'रस-सिद्धान्त की प्रमुख समस्याएँ (पृ० १५३) में रस के अन्तर्गत।
५. रस-सिद्धान्त की प्रमुख समस्याएँ, डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० १५३
६. रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, पृ० ३६१
७. द्रष्टव्य—रस-संख्या : काव्यशास्त्रीय विश्लेषण, पृ० १४२-४६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

आदि अनुभावों से परिव्यक्त और हर्ष, आवेग, चापल्य, मोह आदि संचारी भावों से परिपुष्ट होकर सख्य रस की संज्ञा प्राप्त करता है।

संस्कृति, परिवेश और युग-बोध के परिवर्तन के साथ साहित्य की भाव-धारा में जब-जब भी परिवर्तन आया है, तब-तब न केवल नये रसों की आवश्यकता का अनुभव ही किया गया है, वरन् उन्हें स्वीकृति भी दी गई है—शान्त, वत्सल और भक्ति रस इसके प्रमाण हैं। अपने युग की परिस्थितियों के फलस्वरूप, परिवेश के दबाव के कारण साहित्य की भावधारा में आए परिवर्तन को दृष्टि में रखकर ही भारतेन्दु ने कुछ नवीन रसों को मान्यता देने का प्रस्ताव रखा है। उनके द्वारा प्रस्तावित रसों में सख्य के स्वतन्त्र रस-रूप में स्वीकृति का प्रमाण-पुष्ट आधार है, अतः हमारे विचार से शान्त, भक्ति और वत्सल के साथ सख्य की भी पृथक् रस के रूप में गणना की जानी चाहिए। हाँ, भारतेन्दु के 'प्रमोद वा आनन्द' रस का आधार स्पष्ट नहीं है। आनन्द तो सभी रसों के मूल में है, फिर उसके स्वतन्त्र रसत्व की क्या आवश्यकता है? संस्कृत-काव्य-शास्त्र में भोज ने भी आनन्द रस का उल्लेख किया है[१] और हरिपाल देव ने 'ब्राह्म रस' का स्थायी भाव आनन्द माना है।[२] भरत मुनि ने रति को आमोदात्मक भाव माना है।[३] डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त ने भारतेन्दु द्वारा मान्य 'प्रमोद' रस को शृंगार अथवा हास्य में अन्तर्भूत माना है: 'प्रमोद रस शृंगार अथवा हास्य रस के अन्तर्गत गणनीय है।'[४] यहाँ यह ध्यातव्य है कि भारतेन्दु प्रमोद को आनन्द का पर्याय मानकर 'प्रमोद वा आनंद' को एक ही रस मानते हैं, एतदर्थ इस संदर्भ में डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त का उपर्युक्त मत भी मान्य नहीं हो सकता। वस्तुतः सभी रस आनन्दात्मक (प्रमोदात्मक) हैं, अतः 'प्रमोद वा आनंद' को किसी नये रस के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती।

नाटक के सन्दर्भ में, भारतेन्दु द्वारा उल्लिखित नवीन रसों को मान्यता दी जाए या न दी जाए, उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रस-संख्यान पर स्वतन्त्र दृष्टि से विचार करना चाहते थे। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने चौदह रसों को मान्यता दी है। रस-भेदों के समान उपभेदों के विवेचन में भी कहीं-कहीं भारतेन्दु की मौलिकता लक्षित होती है। उन्होंने वीर रस के जिन चार भेदों का उल्लेख किया है वे हैं—दानवीर, सत्यवीर, युद्धवीर और उद्योगवीर।[५] इनमें दानवीर और युद्धवीर तो सर्वमान्य ही हैं, शेष रह जाते हैं सत्यवीर और उद्योगवीर। सत्यवीर को भारतेन्दु की नवीन उद्भावना मानना भूल होगी, क्योंकि महाभारत में वीरों की जो लम्बी सूची दी गई है उसमें 'सत्यशूर' का भी उल्लेख है।[६] पण्डितराज

---

१. शृंगार प्रकाश (द्वितीय भाग), एकादश प्रकाश, पृ० ४५१
२. द्रष्टव्य—दि नम्बर ऑफ़ रसज़, पृ० ६३-६५
३ नाट्यशास्त्र, ७।८ (वृत्ति)
४. आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त, पृ० ४१
५. नाटक, पृ० ३६
६. द्रष्टव्य—महाभारत, दानधर्म पर्व

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जगन्नाथ ने वीर रस के परम्परित चारों भेदों, दानवीर, दयावीर, युद्धवीर और धर्मवीर, का उल्लेख करने के वाद सत्यवीर, पाण्डित्यवीर, क्षमावीर और बलवीर नामक भेदों को भी स्वीकृति दी है।[1] चित्रधर ने अपनी 'वीरतरंगिणी' में व्यवस्था-रूप से मान्य वीर रस के चार भेदों को स्वीकार कर पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उल्लिखित अन्य भेदों को अमान्य ठहराया है।[2] चित्रधर ने सत्यवीर को धर्मवीर में ही अन्तर्भुक्त मानकर उसकी पृथक् सत्ता को अस्वीकार किया है।[3] डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि 'सत्य पर अटल रहना साहस या निर्भयता का ही द्योतक है। उसके पालनकर्त्ता को हम धर्म का पालनकर्त्ता मानते हैं। अतएव सत्यवीर को धर्मवीर के ही अन्तर्गत ले लेना चाहिए।'[4] सत्यवीर के सम्बन्ध में यह मत स्वीकरणीय है। भारतेन्दु द्वारा उल्लिखित उद्योगवीर का अन्तर्भाव भी धर्मवीर में ही हो जाता है। वस्तुतः उद्योगी व्यक्ति आलस्य, तन्द्रा आदि का परित्याग कर अहर्निश कर्मलीन हो स्वधर्मपरायण रहता है, अतः उद्योगवीर को स्वतन्त्र भेद मानना संगत प्रतीत नहीं होता।

उपर्युक्त विवचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतेन्दु नाटक में रस की अनिवार्यता स्वीकार कर उसे आत्मस्थानीय मानते हैं। युग और परिवेश के दवाव से भाव-बोध में आये परिवर्तनों को दृष्टि में रखकर वे रसों के नवीन भेदोप-भेदों को भी स्वीकृति देन के पक्ष में हैं। नाटक का प्रधान लक्ष्य चूँकि दर्शक-पाठकों को रसास्वाद कराना है, अतः रस के पूर्ण परिपाक और नाट्य-कृति की सौन्दर्य-रक्षा के लिए नाटककार को परस्पर विरोधी रसों के चित्रण से अपनी रचना को वचाना चाहिए। भारतेन्दु लिखते हैं कि 'नाटकों की सौन्दर्य-रक्षा के हेतु विरोधी रसों को वचाना भी वहुत आवश्यक कार्य है, अन्यथा होने से कवि का मुख्य उद्देश्य नाश हो जाता है।'[5] किसी नाटक में मित्र रसों की योजना और अमित्र रसों के बचाव से ही सामाजिक को अखण्ड रसानुभूति होती है। संस्कृत-आचार्यों ने रसों के पारस्परिक विरोधाविरोध का विचार किया है। पण्डितराज के अनुसार 'वीर और श्रृंगार में, श्रृंगार और हास्य में, वीर और अद्भुत में, वीर और रौद्र में एवं श्रृंगार और अद्भुत में परस्पर अविरोध अर्थात् विरोध नहीं है। श्रृंगार और बीभत्स में, श्रृंगार और करुण में, वीर और भयानक में, शान्त और रौद्र में तथा शान्त और श्रृंगार में परस्पर विरोध हैं।'[6] भारतेन्दु ने भारतीय आचार्यों के उक्त दृष्टिकोण का समर्थन किया है। श्रृंगार

---

१. दे० रसगंगाधर, प्रथमानन, वीररस प्रकरण, पृ० १६३-७६

२. वीरतरंगिणी, पृ० १०-११

३. अधर्म्मान्निवृत्तावुत्साहो धर्म्मवीरे स्थायी। स च सत्यवीरेऽप्यविशिष्ट एवेति न सत्यवीरो धर्म्म-वीरात् पृथक्। —वीरतरंगिणी, पृ० ११

४. रस-सिद्धान्त: स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ३६२

५. नाटक, पृ० ३६

६. रसगंगाधर, प्रथमानन (हिन्दी व्याख्याकार : मदनमोहन झा), पृ० १६२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

के मित्र और अमित्र रसों का उल्लेख करते हुए भारतेन्दु लिखते हैं : 'नाटक रचना में विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए। जैसे श्रृंगार के हास्य वीर विरोधी नही किन्तु अतिकरुण बीभत्स रौद्र भयानक और शान्त विरोधी हैं, तो जिस नाटक में श्रृंगार रस प्रधान अंगीभाव से हो उसमें ये न आने चाहिए।'[१] अतिकरुण से भारतेन्दु का आशय करुण विप्रलम्भ से न होकर करुण रस से ही है। अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं : 'अतिकरुण लिखने का तात्पर्य यह है कि सामान्य करुण तो वियोग में भी वर्णित होगा किन्तु पुत्रशोकादिवत् अति करुण का वर्णन श्रृंगार का विरोधी है।'[२] स्पष्टतः श्रृंगारप्रधान नाटक में करुण विप्रलम्भ के चित्रण को वर्ज्य न मानकर भारतेन्दु ने स्थायिभावप्रभव करुण का ही 'अति करुण' के द्वारा निषेध किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु नाट्य में रस की अवहेलना नहीं करते। इसके विपरीत वे उसे यथेष्ट महत्त्व देते हैं, फलतः अनेक दृष्टियों—रस संख्या, विरोधाविरोध आदि—से नाट्य में रस के प्रयोग पर विचार करते हैं। यद्यपि उनकी रस-विचारणा अधिकांशतः परम्परा-भिन्न नहीं है तथापि कहीं-कहीं उस पर मौलिकता की छाप भी है। सुचिन्तित न होने के कारण उनके सम्बन्ध में डॉ॰ सत्येन्द्र तनेजा का यह निष्कर्ष मान्य नहीं हो सकता कि 'उनमें प्राचीन नियमों के प्रति विशेष श्रद्धा दिखाई नहीं देती।'[3] नाटक के तीन तत्त्वों—वस्तु, नेता और रस में से रस के प्रति उनके एतद्विषयक विचार इसका प्रमाण हैं। केवल सिद्धान्त-कथन के रूप में ही नहीं, व्यावहारिक धरातल पर भी वे रस का समादार करते हैं। उनके नाटकों की रस-सिक्तता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भारतेन्दु के अतिरिक्त, प्रसाद पूर्व अन्य नाटककारों ने भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नाट्य में रस की महत्ता स्वीकार की है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' साधारणीकरण और तन्मयत्व को ही नाटक का सार-सर्वस्व मानते हैं। जिस नाटक के प्रेक्षण से द्रष्टा साधारणीकृत, तन्मय और रसाभिभूत न हो, वह नाटक ही कैसा? 'प्रेमघन' के शब्दों में, 'जानना चाहिए कि नाटक वहाँ तक नहीं है कि जहाँ तक उसमें नकलपन आवे, किन्तु नाटक और अभिनय वह वस्तु है कि जब देखने वालों को इसका परिज्ञान न रह जाय कि हम नाटक देखते हैं वा सत्यलीला, जिसके शब्द-शब्द से रस चूता और पद-पद पर आनन्द का मज़ा मिलता जाय और देखने वाले उस रस में रंगकर तन्मय दशा को प्राप्त हो जायँ।'[४] वस्तुतः आलेखकार के परिश्रम और अभिनय-कला की सार्थकता सामाजिक को रसमग्न कर देने में ही है। यही नाट्य का चरम प्रयोजन है। 'प्रेमघन' ने परोक्षतः इसी की ओर संकेत किया है—

१. नाटक, पृ० ३६
२. वही, पृ० ३६
३. हिन्दी नाटक : पुनर्मूल्यांकन, पृ० ८६
४. प्रेमघन-सर्वस्व, पृ० ३४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

(क) रसिकन रस दातार बुधजन बुद्धि विलास हित।
निन्दा नीचन सार यथा उचित फल सो फलित।।[1]

(ख) मन्द प्रसंगहु ल्याय वाहू मैं सिच्छा सरस।[2]

नाटक की सार्थकता रसिक जनों को रसाभिभूत करने और शिक्षा को सरस रूप में—व्यंजित रूप में संप्रेषित करने में है। प्रेक्षकों का चित्तानुरंजन नाटककार का प्रमुख लक्ष्य है। इसे छोड़कर यदि नाट्य-रचना की जाएगी तो प्रेक्षागृह से दर्शकों के उठकर चले जाने का अंदेशा रहेगा। 'प्रेमघन' इस रहस्य को जानते हैं, तभी तो 'वारांगना रहस्य महानाटक' का सूत्रधार कहता है—'उस नवीन कवि का बनाया नवीन प्रवन्ध और नवीन भेद का श्री वारांगना रहस्य महानाटक अथवा वेश्यादि विनोद महाफाटक का अभिनय आज मैं आप लोगों के चित्त-विनोदार्थ किया चाहता हूँ।'[3] स्पष्टतः 'प्रेमघन' की दृष्टि में दर्शक को रस-निमज्जित कर देना ही नाटक की चरम उपलब्धि है। नाटक के संदर्भ में 'प्रेमघन' ने भक्ति की रसनीयता को भी स्वीकार किया है। अपने नाटक 'प्रयागरामागमन' की भूमिका में उन्होंने लिखा है : 'अव यह छोटा ग्रन्थ—जिसकी कथा का आधार काव्यकला के सृष्टिकर्त्ता भगवान वाल्मीकि जी की महारामायण है—जैसा लिखा गया, प्रिय पाठकों की सेवा में भी प्रस्तुत किया जाता है। आशा है कि उनके मनोरंजन के अतिरिक्त यह भक्ति-भाजन भी होगा, क्योंकि रामकथा है।' (पृ० ३) 'प्रेमघन' के इस कथन से यह ध्वनित है कि राम-कृष्ण आदि की कथाओं पर आधृत नाटकों से पाठकों-प्रेक्षकों को भक्ति-भाव की भी प्राप्ति होगी। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'प्रेमघन' रस को अनिवार्य नाट्य-सिद्धि मानते हैं।

भारतेन्दुयुगीन नाट्यकारों में लाला श्रीनिवासदास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे शिल्प की अपेक्षा भाव-पक्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसी आधार पर उन्होंने कवियों या नाटककारों को दो प्रकार का माना है : एक वचन का सिंगार करने वाले, दूसरे भाव में चोज़ रखने वाले।[4] इनमें 'वचन का सिंगार करने वाले अपने लेख को अनुप्रास, अलंकारादि से हर तरह विचित्र बनाना चाहते हैं···पर इन बातों से पढ़ने वालों को कुछ फ़ायदा नहीं होता।'[5] इसके विपरीत 'भाव में चोज़ रखने वाले केवल भाव पर दृष्टि रखते हैं। उनकी रचना में साधारण रीति से रूपक, उपमा, अनुप्रासादि आ जायँ तो भलेई आ जाओ पर वे अपने मन में संसार की दशा दिखाकर लोगों को अनेक तरह के दुख-सुख का अनुभव कराया चाहते हैं, कोई मन पर असर होने की रीति, कोई मत बदलने का समय, कोई भले-बुरे कामों का परिणाम, कोई खोटे-खरे आदमियों का चाल-चलन बग़ैरे दिखाता है। इस रीति से भाव में चोज रखना नाटक रचने वालों का मुख्य काम है।'[6] कहने की आवश्यकता नहीं कि लाला श्रीनिवासदास भाव-सृष्टि को

१-३, आनन्द कादम्बिनी, भाद्रपद संवत् १९४२, पृ० ४
४-६. रणधीर और प्रेममोहिनी, निवेदन, पृ० ६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

ही नाट्य-रचना का मुख्य उद्देश्य मानते हैं। नाटक जितना भाव-सम्पन्न और सरस होगा; उतना ही वह सामाजिकों को रसाभिभूत कर सकेगा। इसी में किसी नाट्यकृति की सफलता है। 'संगोगिता स्वयंवर' का सूत्रधार कहता है : 'निस्सन्देह इस नवीन नाटक की वाक्य कुसुमावली मधुपगण से सज्जन समाज के प्रमोद हेतु प्रस्तुत की जाती है। यदि इससे उनको कुछ रस मिलेगा तो हम लोग अपना परिश्रम सफल समझेंगे। (पृ० ३) चूँकि नाटक में नाट्यकार अपने विचारों की अभिव्यक्ति परोक्षतः पात्रों के माध्यम से ही करता है, अतः सूत्रधार के उक्त कथन से व्यंजित है कि लाला श्री निवासदास नाटक में रस को महनीय स्थान देते हैं। अपने एक अन्य नाटक—'तप्ता संवरण' में भी शब्द-भेद से नट और सूत्रधार के वार्तालाप द्वारा उन्होंने इसी मत की आवृत्ति की है—

नट : नाटक करने से क्या लाभ होता है ?

सूत्रधार : प्रथम तो मन बहलाने के लिए यह बहुत उत्तम उपाय है, दूसरे नाटककार समय पर अपना रूप, वाणी, स्वभाव बदल सकता है, तीसरे नाटक के द्वारा सैकड़ों, हजारों वर्षों की बातें दृष्टिगोचर हो जाती हैं, इसलिए राजा लोगों को इसका अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है। —पृ० १

यहाँ 'मन बहलाने के लिए' निश्चय ही एक हल्का मुहावरा है, पर इसके द्वारा नाटककार ने सहृदय को नाट्य-दर्शन से मिलने वाले आनन्द की ओर संकेत किया है। स्पष्टतः लाला श्रीनिवासदास रसात्मकता को नाटक का मुख्य प्रयोजन स्वीकार करते हैं।

यहाँ मुख्य प्रश्न यह है कि इस प्रयोजन की सिद्धि कैसे की जाए ? नाटककार तो सरस आलेख ही तैयार कर सकता है, पर नाट्य मूलतः प्रयोगमूलक कला है जिसकी सिद्धि अभिनेताओं के भावानुकूल अभिनय पर निर्भर करती है। जब तक नाटकीय वस्तु को भावाभिनय के द्वारा स्वाभाविक रीति से प्रस्तुत न किया जाएगा तब तक नाट्य की सफलता संदिग्ध रहेगी और उससे कृत्रिमता की गन्ध आएगी। केवल सात्त्विक अभिनय को भावाभिनय मानना भूल होगी। वस्तुतः आंगिक और वाचिक अभिनय भी मूलतः भाव-प्रेरित होते हैं और आहार्य अभिनय भी भावानुकूल ही होता है। जब कुशल अभिनेता अपने अभिनय-चातुर्य से सहृदय प्रेक्षकों के मन में यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने में सफल हो जाते हैं तो वे (सामाजिक) रस-ग्रहण करने लगते हैं। पर इसके लिए अभिनेताओं को कठिन परिश्रम—निरन्तर अभ्यास करना पड़ता है, क्योंकि भाव-प्रदर्शन का काम अन्ततः उन्हीं का है। लाला श्रीनिवासदास के शब्दों में, 'भाव दिखाना नाटक करने वालों के अधीन है, संकोच-विस्तार के कारण से इसी को हाव, हेलादि भी कहते हैं। ये संगीत का अंग है। संयोग-वियोग, हानि, लाभ वा सुख, दुख को स्वाभाविक रीति से जता देने का नाम भाव है। हँसना, रोना, चकित होना, क्रोधित होना, उदास होना, व्याकुल होना, मतवाले होना, अचेत होना, बुलाना, भेजना, ठैराना, याद

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

करना, प्रणाम करना, धमकाना इत्यादि वचन के अनुरूप कर दिखाने को भाव बताने वालों का काम कहते हैं।'[1] इन क्रियाकलापों को सहज-स्वाभाविक और भावानुकूल रीति से करने में ही अभिनेताओं का कौशल है।

भाव-प्रदर्शन वस्तुतः वाचिक और आंगिक अभिनय के द्वारा होता है। वाचिक अभिनय का आधार स्वर-भेद है और आंगिक का मुख-मुद्राएँ और शारीरिक चेष्टाएँ। हृदयस्थ भावों के अनुरूप व्यक्ति की वाणी, नेत्र, मुख और शारीरिक चेष्टाओं में जो अन्तर आता है, उसके सहज-स्वाभाविक अभिनय पर ही प्रदर्शित नाटक की सफलता निर्भर है। भावाभिव्यक्ति के उक्त रूपों की व्याख्या लाला श्रीनिवासदास ने इन शब्दों में की है: 'स्वर, नेत्र, मुख के आकार और शरीर से भाव बताया जाता है। स्वर से सुख-दुख आदि का जताना स्वर भाव है, नेत्रों से सुख-दुख आदि का जताना, बाकी शरीर को जैसे का तैसा रखना, नेत्र भाव है, मुख के आकार से सुख-दुख आदि का जताना, नेत्र वगैरे को जैसे का तैसा रखना मुख के आकार का भाव है और हात, पाँव, कमर, छाती आदि से जो भाव बताए जाएँ उनको शरीर का भाव कहते हैं।'[2] इनमें से 'शरीर का भाव पहले तीन भावों से सहज है, परन्तु भाव बताने वाला जितना चतुर और अनुभवी होगा उतना ही जैसे का तैसा रूप दरसा कर देखने वालों के मन पर ज्यादा असर कर सकेगा।'[3] वस्तुतः स्वाभाविकता अभिनय का प्राण है। अभिनय के स्वाभाविक होने पर ही नाट्य रसनीय और सहृदय संवेद्य हो पाता है—और इस दृष्टि से, लाला श्रीनिवासदास का उपर्युक्त मत निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

लाला श्रीनिवासदास के रस-विषयक दृष्टिकोण पर विचार करने से इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता कि उन्होंने अत्यन्त सजग, सचेत और सुलझे ढंग से नाटक की रससिक्तता पर विचार किया है। नाट्य-कृति की सार्थकता रस-सिद्धि में है, मात्र इतना कह कर ही लालाजी आगे नहीं बढ़ गए हैं, वरन् उन्होंने इस पर भी विचार किया है कि उसे कैसे रसात्मक बनाया जाए? प्रयोगशील नाट्य का प्राण तो अभिनय है, जिसकी सफलता कुशल, प्रशिक्षित और अनुभवी अभिनेताओं पर निर्भर करती है और अभिनेता अभिनय को जितना ही भावानुकूल करेगा, नाट्य उतना ही जीवन्त, प्राणवान् और सरस हो जाएगा। रंगकर्मियों के लिए भावाभिनय से सम्बद्ध लाला श्रीनिवासदास के उपर्यंकित निर्देश निश्चय ही बड़े काम के हैं।

उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी किशोरीलाल गोस्वामी ने नाट्य-लेखन किया है। उनके रस-विषयक विचारों का परिज्ञान 'नाट्य-संभव रूपक' के पात्रों की उक्तियों से होता है। उनकी दृष्टि में नाटक प्रेक्षक को रसोपलब्धि कराता है—'नाटकाभिनय देखकर देवता हो या मनुष्य, सबका हृदय शृंगार, वीर, करूण आदि रसों से पूर्ण होकर तदाकारता को प्राप्त होता है। चाहे कोई किसी प्रकृति का क्यों न हो, पर वह भी नाटकाभिनय को देखकर उसमें वर्णित रस के अनुसार अपनी प्रवृत्ति

१-३. रणधीर और प्रेममोहिनी नाटक, पृ० ६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

को प्रगट करता है।'[1] स्पष्टतः नाट्य-दर्शन से सामाजिकों के भाव उद्बुद्ध और परितुष्ट होकर रस-रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। नाट्य का यही तो अलौकिकत्व है कि इसके द्वारा 'विभिन्न समाज और विभिन्न प्रकृति के लोगों का मन एक रसमय हो जाता है।' नाट्य-प्रेक्षण से सहृदय-समाज साधारणीकरण की अभेदमयी भूमिका पर पहुँच कर समान रूप से अभीष्ट (कवि-वर्णित) रस का आस्वादन करता है। यदि यह न हुआ तो अभिनय मात्र प्रदर्शन बनकर रह जाएगा और अभिनेता मात्र अनुकर्त्ता। वस्तुतः नाट्य-वस्तु और अभिनय-कला की सार्थकता तो सहृदय के हृदयावर्जन में ही है। इसी ओर संकेत करते हुए किशोरीलाल गोस्वामी ने नाटक को मानसिक मोद बढ़ाने वाला[3] और महान् आनन्द देने वाला कहा है।[4]

रस-संख्या के विषय में किशोरीलाल गोस्वामी का दृष्टिकोण परम्परित ही है। वे नाट्य के संदर्भ में प्रथित नौ रसों का ही समर्थन करते हैं—

ह्वै मगन लोकत्रय वासी नव रस भीने।
पावैं मन चीते, या अभिनय के कीने ॥[5]

कहने की आवश्यकता नहीं कि किशोरीलाल गोस्वामी ने, परम्परागत रूप में ही सही, नाट्य में रस-तत्त्व की अनिवार्यता स्वीकार की है।

भारतेन्दुयुगीन अन्य नाटककारों के समान राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी नाट्य में रस के महत्त्व को स्वीकार किया है, किन्तु इस दृष्टि से औरों की अपेक्षा वे कहीं अधिक जागरूक हैं। रस का स्वीकार मात्र रूढ़ शब्दावली में न कर तथा उसे अन्य नाट्य-तत्त्वों—वस्तु, संवाद और भाषा, रंग-शिल्प आदि से जोड़कर 'पूर्ण' जी ने अपने विवेक का भी परिचय दिया है। उनके मत में, 'नाटक सुन्दर काव्य और गान के आधार से साहित्य-संगीतानुरागियों के लिए रमणीयता का हेतु होता है।'[6] 'रमणीयता' से नाट्यकार का अभिप्रेत नाट्य-प्रेक्षण से प्रेक्षक को मिलने वाले आह्लाद से ही है। नाट्य-चमत्कृति के मूल में वस्तुतः रसात्मक-संवेगात्मक सौन्दर्य ही है, अतः नाटकीय कथा की रचना में नाटककार को इसी की ओर दत्तचित्त होना चाहिए। 'नाटक वा उपन्यास चाहे वास्तविक घटनाओं के आधार से बने चाहे आद्योपान्त कल्पना पर निर्मित हो, उसमें चमत्कार रस, मनोवेग, कथा-सौन्दर्य, नीति-शिक्षा इत्यादि से होता है, इसलिए मेरा विचार है कि कथा की सत्यता वा असत्यता से ऐसी पुस्तक की उत्त-

---

१. नाट्यसम्भव रूपक, पृ० ५०
२. वही, पृ० २
३. अखिल कला रत होइ प्रीति औ कीरति पावैं।
सुखसागर अवगाहि मानसिक मोद बढ़ावैं॥ —वही, पृ० ३८
४. लोक रीति औ नीति सिखावत, आनन्द देत महा है। —वही, पृ० ३६
५. वही, पृ० ६२
६. चन्द्रकला भानुकुमार, निवेदन, पृ० २

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मता में (यदि वह और सब प्रकार से उत्तम है) अन्तर नहीं पड़ता।'[१] स्पष्टतः नाटक के ख्यात या काल्पनिक वृत्त पर विनिर्मित होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' के मत में मुख्य बात तो उसके रससिक्त होने की है।

नाट्य-प्रभाव की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उसके संवाद पात्रों की मनःस्थिति के अनुकूल हों। भाषा-विहीन संवादों की चूँकि कल्पना नहीं की जा सकती, अतः भाषा का भी तदनुकूल (भावानुकूल) होना आवश्यक है। अपेक्षित प्रभाव-सृष्टि के लिए संवादों की भावानुसारिणी अदायगी का उत्तरदायित्व स्वभावतः अभिनेताओं पर है, अतः राय देवीप्रसाद लिखते हैं : 'पात्रों का बोल-चाल सहज ध्वनि के साथ होना चाहिए जिससे उसका कोई अंश कृत्रिम न प्रतीत होने पावे—धीरे बोलना, वेग से बोलना, उच्च स्वर वा मन्द स्वर से बोलना, स्वगत बोलना, क्रोध मोह विह्वलता वा प्रेम से बोलना, वार्ता को किसी अन्य मनोवेग से गर्भित करना इत्यादि क्रियाएँ उसी पात्र से ठीक बनेंगी जो प्रसंग को ध्यान में रखकर और तल्लीन होकर उचित भाव का नाट्य करना अभीष्ट जानेगा।'[२] स्पष्ट है कि नाट्य-प्रभाव की तभी रक्षा हो सकेगी जब अभिनेता संवाद-कथन में भाव-स्थिति का ध्यान रख कर यथोचित उतार-चढ़ाव और स्वर-भेद रखेगा।

प्रभाव-सृष्टि के लिए नाटक में आये गीतों का इस प्रकार गाया या पढ़ा जाना आवश्यक होगा कि वे विरस न हो जाएँ। इनके वाचन में भी अभिनेताओं को भाव-स्थिति का ध्यान रखना होगा। इस संदर्भ में 'पूर्ण'जी का मत है कि 'विशेष अवसरों को छोड़कर नाटक के गीतों में बहुत तान वा गिट्‌करी से काम न लेना चाहिए। गाना न बन सके तो कहीं गीत को कवितावत् ही कह सकते हैं, तथा साधारण छन्द भी पात्र की योग्यता से गीत का काम दे सकते हैं। कविता पढ़ने की रीति ऐसी होनी चाहिए जिससे उसका भाव पढ़ते ही पढ़ते श्रोता के अन्तःकरण में प्रवेश कर जावे।...पद-पद पर ठहरते हुए सहज रीति से उसे सुनाना चाहिए जिससे न तो छन्द का सौन्दर्य ही मारा जावे और न सुनने वाले को निरी एक शब्द श्रेणी की लपेट ही प्रतीत हो।'[३] राय देवीप्रसाद का यह मत उनकी रंग-दृष्टि और व्यावहारिक सूझ-बूझ का ज्वलन्त प्रमाण है। निश्चय ही गीत-रचना का प्रमुख उद्देश्य भाव-सृष्टि और अनुकूल वातावरण का निर्माण है। व्यावहारिक धरातल पर नाट्य में इस उद्देश्य की सिद्धि, अपेक्षित भाव-गाम्भीर्य के साथ, गीत-निर्वचन पर निर्भर है, अतः अभिनेताओं का इस ओर ध्यान देना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

लाला श्रीनिवासदास की रस-चेतना पर विचार करते समय उनके भावाभिनय विषयक दृष्टिकोण का उल्लेख किया जा चुका है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने उतने

---

१. चन्द्रकला भानकुमार, निवेदन, पृ० ३
२. वही, पृ० ९-१०
३. वही, पृ० १०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

विस्तार के साथ यद्यपि भावाभिनय की चर्चा नहीं की, तथापि उसकी नितान्त उपेक्षा भी नहीं की। इतना तो वे भी स्वीकार करते ही हैं कि 'भाव-सूचक चेष्टा और अंग-विक्षेप नाटक खेलने वाले के प्रधान गुण हैं, इनका अभ्यास विशेषकर होना चाहिए क्योंकि इनके बिना अभिनय केवल चित्र-प्रदर्शन के तुल्य ही रहता है।'[1] निस्सन्देह वास्तविकता और स्वाभाविकता की रक्षा के लिये भावाभिनय नितान्त आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' नाटक को मूलतः अभिनयात्मक मानते हैं। उनकी रंग-दृष्टि अपने समय के अन्य नाटककारों को निश्चय ही पीछे छोड़ देती है। नाट्य को प्रयोगमूलक मानकर 'पूर्ण' ने संवाद और भाषा, गीत-पाठ, रंग-शिल्प, अभिनय-कौशल आदि की भावानुकूलता और रसात्मकता की संतुलित चर्चा की है। यह स्वस्थ दृष्टि उनके रंगकला विषयक व्यावहारिक ज्ञान और स्वतन्त्र चिन्तन की परिचायक है।

उपरिलिखित नाटककारों के अतिरिक्त इस युग के अन्य नाटककारों ने रस अथवा अन्य नाट्यांगों पर जम कर विचार नहीं किया है। आनुषंगिक रूप से प्राप्त उनके विचारों से यह अवश्य ध्वनित होता है कि वे इसकी उपेक्षा नहीं करते। उनके नाटकों की भाव-प्रवणता भी इसी का प्रमाण है। राजा लक्ष्मण सिंह ने किसी मौलिक नाटक की रचना न कर कालिदास के नाटकों का जो अनुवाद किया है उनकी रसात्मकता और भावानुवादात्मकता से यही प्रमाणित होता है कि राजा साहब नाट्य में रस-भाव की उपेक्षा के पक्षपाती नहीं। पं० बालकृष्ण भट्ट भी नाटकों में सुसभ्य विनोद का,[2] नाट्य रस का समर्थन करते हैं। नाटक में 'कविता के मीठे रस के बदले नैयायिकों के सदृश कोरा तर्क-वितर्क करना'[3] उन्हें पसन्द नहीं। बाबू राधाकृष्णदास तो स्पष्टतः वीररस प्रधान नाटकों के पक्षपाती हैं। 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक में वे पारिपार्श्विक से कहलवाते हैं—'हमारी इच्छा है कि हम लोग ऐसे वीर रस पूर्ण नाटक खेलें कि जिससे हमारे भारतीय वीरगण प्रोत्साहित होकर अपने शत्रुओं से जी तोड़कर लड़ें।'[4] पारिपार्श्विक की यह उक्ति वस्तुतः उन्हीं के विचारों की अभिव्यक्ति करती है। इसी युग के एक अन्य नाटककार काशीनाथ खत्री तो नाट्य को इसीलिए समाज-सुधार का सर्वाधिक प्रभविष्णु माध्यम मानते हैं क्योंकि इसमें सामाजिक के भावोद्बोधन की अप्रतिम क्षमता है। उनके शब्दों में, 'नाटक में सुरीति से मनबहलाव और उपदेश के अर्थ मनुष्य के गुण, अवगुण, चित्त की चंचलता, संकल्प, विकल्प, भूल चूक, आस, भय, शोक, विषाद, मन की लहर और तरंगों की नकल करके इस रीति में दर्सा देते हैं कि असल और नकल में भेद नहीं रहता और तमाशा देखने वालों के

---

१. चन्द्रकला भानुकुमार, निवेदन, पृ० १०
२. दे० हिन्दी-प्रदीप, अप्रैल १८८३, पृ० १६
३. वही, पृ० १७
४. महाराणाप्रताप सिंह, पृ० ८५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

चित्त में बड़ा ही असर होता है।"[1] पं० राधेश्याम कथावाचक चूंकि पारसी रंगमंच से जुड़े रहे, अतः उन्होंने मनोरंजन जैसे हल्के शब्द के ही द्वारा नाट्यानन्द को स्वीकार किया है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसादपूर्व हिन्दी-नाटककारों ने नाट्य के संदर्भ में रस की उपेक्षा नहीं की। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उन्होंने नाटक की रसनीयता का समर्थन अवश्य किया है। नाट्य-प्रयोजन के रूप में आनन्द (मनोरंजन) और शिक्षा का उल्लेख तो इस काल की नाट्य-रूढ़ि ही बन गई थी जिसका पालन राजा लक्ष्मणसिंह जैसे नाट्यानुवादक को छोड़कर प्रायः सभी नाटककारों ने किया है। प्रसादपूर्व भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही रूपों में नाटक की रससिक्तता का समर्थन किया है। अपने नाटकों की भूमिकाओं में जहाँ प्रत्यक्ष रूप से इस कालखण्ड के नाटककारों ने नाट्य में रस तत्त्व का समर्थन किया है वहाँ नाटकीय पात्रों के संलापों के द्वारा परोक्ष रूपसे भी इसे स्वीकृति दी है। यह उनकी रस-चेतना का स्पष्ट प्रमाण है। नाट्य के संदर्भ में इस काल-खण्ड के नाटककारों में भारतेन्दु के अतिरिक्त लाला श्रीनिवासदास और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की रस-विचारणा निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। इन नाटककारों ने नाट्य के अभिनय पक्ष को ध्यान में रखकर उसकी रसात्मकता पर भी यथेष्ट विचार किया है। कथा-वस्तु, भाषा और संवाद, रंगशिल्प और अभिनेयता तथा नाट्य-प्रयोजन आदि के संदर्भ में रस, भाव और स्थिति का उल्लेख कर इन नाटककारों ने विवेक और दूरदर्शिता का परिचय दिया है। निस्सन्देह ये नाटककार नाटक को एक बहुआयामी सामूहिक कला के रूप में ग्रहण करने थे, साथ ही सैद्धांतिक और व्यावहारिक धरातल पर नाट्य के रसात्मक उपयोग के प्रति भी सजग और सचेष्ट थे।

प्रसाद की रस-चेतना : नाट्य के सन्दर्भ में

भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी के जिस नाटककार पर दृष्टि ठहरती है, वह है जयशंकर प्रसाद। हिन्दी-नाट्य-साहित्य के विकास में प्रसाद का योगदान अनुपेक्षणीय है। नाट्य-सृजन की दृष्टि से ही नहीं, नाट्य के सैद्धांतिक निरूपण की दृष्टि से भी प्रसाद का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

प्रसाद रसवादी कलाकार हैं। शैवागम में उनकी दृढ़ आस्था है, अतः जीवन और साहित्य में वे आनन्दवाद के समर्थक हैं। उनके मत में 'रस अपने स्वरूप में नाट्यों की अपनी वस्तु थी और उसी में आत्मा की मूल अनुभूति पूर्णता को प्राप्त हुई थी।

---

१. ग्राम पाठशाला और निकृष्ट नौकरी, पृ० २

२. अश्लीलता न आने पाए और मनोरंजन कायम रहे।...ऐसे समय में हमको किसी श्रेष्ठ नाटक के खेलने का विचार करना चाहिए। मनोरंजन के साथ ही साथ अपने देश और अपने समाज का भी कुछ उपकार करना चाहिए। —वीर अभिमन्यु नाटक, पृ० १-२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इसीलिए स्वीकार किया गया—'काव्येषु नाटकं रम्यम्' ।'[1] काव्य में अन्तर्भुक्त होने पर भी अत्याह्लादजनक नाट्य का अपना महत्त्व है, अतः उसे काव्य में रम्य माना गया है। प्रसाद की दृष्टि में, नाट्य अभ्यन्तर की प्रधानता और आनन्दानुभूति की तीव्रता के कारण ही श्रव्य-काव्य से श्रेष्ठ है, रम्य है : 'जहाँ नाट्य में अभ्यन्तर की प्रधानता होती है, वहाँ श्रव्य में बाह्य वर्णन की ही मुख्यता अपेक्षित है। वह बुद्धिवाद से अधिक सम्पर्क रखने वाली वस्तु बनती है, क्योंकि आनन्द से अधिक उसमें दुःखानुभूति की व्यापकता होती है।'[2] स्पष्टतः प्रसाद नाट्य को कविता या काव्य के अन्य श्रव्य-रूपों की अपेक्षा अधिक आनन्ददायक और रस-सिक्त मानते हैं, साथ ही विचार-तत्व के लिए भी उसमें अपेक्षाकृत कम अवकाश स्वीकार करते हैं।

नाटककार जयशंकर प्रसाद रस को नाटक का अनिवार्य धर्म मानते हैं। रस के बिना नाटक की कल्पना ही नहीं की जा सकती। नाटकों से रसाभिव्यक्ति का घनिष्ठ और स्वाभाविक सम्बन्ध स्वीकार करते हुए प्रसाद लिखते हैं : जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटकों से रस की।[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद की दृष्टि में रस-सिद्धि ही नाटक का आत्यंतिक लक्ष्य है। इसी मत की पुष्टि करते हुए 'काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध' के प्राक्कथन में आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी ने लिखा है—'प्रसाद जी की अन्य उपपत्ति यह भी है कि दार्शनिक रहस्यवाद का नाटकीय रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार रहस्यवाद में आनन्द के पक्ष की प्रधानता है, उसी प्रकार नाटक में भी।'[4] आचार्य वाजपेयी का यह मत तथ्याश्रित और सुविचारित होने से मान्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रसाद रस को नाट्य के सर्वातिशायी तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

रस-सिद्धांत को एक पूर्ण सिद्धान्त की मान्यता देकर जयशंकर प्रसाद ने पश्चिम के व्यक्ति-वैचित्र्यवाद से इसका व्यावर्तन करते हुए लिखा है कि 'भारतीय रसवाद में मिलन, अभेद सुख की सृष्टि मुख्य है। रस में लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं, किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर। वासना से ही क्रिया सम्पन्न होती है, और क्रिया के संकलन से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र में महत्ता का आरोप हो जाने पर, व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उन महती लीलाओं से विद्रोह करता है। यह है पश्चिम की कला का गुणनफल। रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणी-करण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं, इसलिए वह वासना का संशोधन न करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस-सृष्टि

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ७६
२. वही, पृ० ११०
३. वही, पृ० ८०
४. वही, प्राक्कथन, पृ० १३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है, और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक-दूसरे के पूरक बनकर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।'[1] स्पष्ट है कि प्रसाद की दृष्टि में, नाट्य में रसानुभूति मुख्य है। भारतीय रसवाद में साधारणीकरण का स्वीकार इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। साधारणीकरण रसास्वाद की पूर्वपीठिका है और इसके द्वारा प्रेक्षक देश-काल और निज-पर की चेतना से मुक्त होकर रसदशा में पहुँच जाता है। साधारणीकरण असाधारण को साधारण, विशिष्ट को सामान्य बनाकर व्यक्ति के वैचित्र्य (असाधारणत्व या वैशिष्ट्य) का अपहरण कर उसे सर्वजनसंवेद्य बना देता है, फलतः सामाजिक को रसानुभूति हो जाती है। अलौकिक, अखंड आनन्दानुभूति से दर्शक-पाठक मानो कृतकृत्य हो जाता है। इसके विपरीत, व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का सिद्धांत रसानुभूति में आड़े आता है। उस सिद्धान्त से सामाजिक नाटकीय पात्रों से अभेद स्थापित नहीं कर पाता। फलतः उसके भावों का परिष्कार भले ही हो जाए, रस-मग्न वह नहीं हो पाता। निश्चयतः साधारणीकरण पर आधारित रस-सिद्धान्त स्वयं में पूर्ण होने से स्वीकरणीय है। व्यक्ति-वैचित्र्यवाद इससे बहुत पीछे रह जाता है। सामाजिक के भाव उद्बुद्ध और उद्दीप्त होकर नाटकीय पात्रों के भावों से जैसे ही साधारणीकृत होते हैं, वैसे ही उसे रसानुभूति हो जाती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'प्रेक्षक वास्तविक पात्रों द्वारा चित्रित प्रेम या भय आदि संवेगों की वास्तविक अनुभूति नहीं करता, वरन् वह स्वयं निर्विकार रहकर उस अवर्ण्य रस की अनुभूति करता है, जिसके द्वारा उसे बाह्य नहीं, वरन् आन्तरिक आनन्द प्राप्त होता है। यह रसानुभूति प्रेक्षक की अपनी रस-ग्राह्यता, अर्थात् रस को ग्रहण करने की शक्ति पर निर्भर है, नाटक तो रसानुभूति का निमित्त मात्र है। रसानुभूति तथा संवेग एवं प्रेक्षक पर होने वाली प्रतिक्रिया—इन दोनों के बीच का अन्तर समझ लेना आवश्यक है। रसानुभूति में संवेग का निहित होना संभव है, किन्तु वह स्वयं संवेग एवं प्रतिक्रिया नहीं है। इससे हमें इस बात का संकेत मिलता है कि नाटक का चरम उद्देश्य प्रेक्षक को उसके स्व से ऊपर उठाकर परब्रह्म के स्तर तक ले जाना है, जो कि अपनी ही रचना का अवलोकन कर उससे रसानुभूति प्राप्त करता है। इस प्रकार नाटक का वास्तविक लक्ष्य उपदेश देना या प्रेरणा देना न होकर प्रेक्षक को आनन्दित करना है।'[2]

सामाजिक में तो रसानुभूति की क्षमता है ही, क्या नट में भी वह है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए प्रसाद ने निष्कर्ष रूप में लिखा है : 'तब यह मान लेना पड़ेगा कि रसानुभूति केवल सामाजिकों में ही नहीं, प्रत्युत नटों में भी है। हाँ, रस-विवेचना में भारतीयों ने कवि को भी रस का भागी माना है। अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ८५
२. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, प्र० सं० : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ४०६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हैं—कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नाट्यव्यापारः सैव च संवित् परमार्थतो रसः (अभिनवभारती ६ अध्याय)। कवि में साधारणीभूत जो संवित् है, चैतन्य है, वही काव्यपुरस्सर होकर नाट्यव्यापार में नियोजित करता है, वही मूल संवित परमार्थ में रस है। अब यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि रस-विवेचना में संवित् का साधारणीकरण त्रिवृत् है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एक रस हो जाता है।'[1] स्पष्टतः प्रसाद साधारणीकरण द्वारा कवि (नाटककार), नट (अभिनेता) और सामाजिक (प्रेक्षक-पाठक) की समानानुभूति स्वीकार करते हैं। उनका यह मत भट्टतौत के 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' के निकट है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि कवि, नट और सामाजिक के भावों में अभिन्नता स्वीकार करने पर भी प्रसाद ने नटों में किसी भी आस्वाद का अभाव माना है।[2] रसानुभूति की क्षमता होने पर भी, नाट्याभिनय के क्षणों में, नटों में किसी भी आस्वाद का अभाव होता है। प्रसाद की यह मान्यता विवाद्य होने पर भी संगत अथ च समीचीन प्रतीत होती है। वस्तुतः अभिनेता अभिनय के क्षणों में पात्र के भावों के साथ तादात्म्य तो स्थापित करता है, किन्तु उन भावों से आक्रान्त नहीं होता—वह भावाभिनय के द्वारा भावों का भी अनुकरण ही करता है। नट द्वारा भावों से आक्रान्त हो जाने की स्थिति में अभिनय के विसंगत हो जाने का खतरा है—तन्मयत्व की स्थिति में अभिनय के भूल जाने का अंदेशा है। यों नट के अभिनय-कौशल का रहस्य उसकी सहजता में ही है। पूरी तरह सजग होने पर भी अभिनेता की सफलता इस बात में है कि उसकी सजगता लक्षित न हो। दर्शकों को वह ऐसे दिखाई दे कि जैसे नाटकीय पात्रों से वह तदाकार हो गया हो। इतना होने पर भी इसमें सन्देह नहीं कि नट की अभिनय-सजगता उसके रसास्वादन में बाधक तो है ही। कारण यह है कि इस जागरूकता की वजह से नट अपनी व्यक्ति-चेतना से मुक्त न हो पाने के कारण तन्मयीभाव की स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाता जबकि वह प्रेक्षकों को दिखाई इसी रूप में देता है। वस्तुतः 'नाटक में अभिनेता उसी प्रकार सज्जागृह से रंगमंच पर प्रवेश करता है, जैसे कि दैव संसार में अवतार लेता है तथा अज्ञात से ज्ञात बन जाता है, अतः नाटक के नायक का रंगमंच पर प्रवेश अवतारणा कहलाता है, जो यह सूचित करता है कि वह सैद्धान्तिक रूप से एक अवतार है। रंगमंच पर उसके इस व्यक्तित्व से यह निर्विवाद सिद्ध है कि उसे स्वयं उन भावों एवं संवेगों से निर्विकार रहना है, जिनका कि वह अभिनय करता है। शंकराचार्य का यह प्रश्न इसी बात की पुष्टि करता है—क्या वह अभिनेत्री, जो पत्नी का अभिनय करती है, वास्तव में पति का अभिनय करने वाले पात्र की चाहना करती है? कुशल अभिनेता अपने अंगों का संचालन उसी प्रकार करता है, जैसे पुत्तलिका-संचालक अपनी पुत्तलिकाओं को इच्छानुसार नचाकर इच्छित भावों की अभिव्यक्ति करता है, परन्तु स्वयं

१-२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ८२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उन भावों से आक्रान्त नहीं होता ।'[1]

नाटक में शान्त रस की अभिस्वीकृति पर्याप्त विवाद्य रही है ।[2] प्रसाद शान्त को अनभिनेय नहीं मानते । उनका तर्क है कि 'नटों में तो किसी भी आस्वाद का अभाव है, इसलिए शान्त रस भी अभिनीत हो सकता है, इसकी आवश्यकता नहीं कि नट परम शान्त, संयत हो ही ।'[3] शान्त रस की नाट्य-प्रयोज्यता के सम्बन्ध में अब तक हुए विवाद को दृष्टि में रखकर प्रसाद के उक्त मत का पक्ष-समर्थन किया जा सकता है ।

नाटकीय तत्वों—कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, भाषा-शैली और उद्देश्य की इतिकर्त्तव्यता भी प्रसाद ने रसपरकता में ही स्वीकार की है, निगमन-शैली से डॉ० कुसुम कुमार इसी निष्कर्ष पर पहुँची हैं ।[4] उनके इस निष्कर्ष से असहमति के लिए अवकाश नहीं है ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद ने नाटक में रस की अनिवार्यता का प्रतिपादन अत्यन्त सजग रूप में किया है । उनका यह विवेचन उनकी रस-चेतना का स्पष्ट प्रमाण है ।

२. प्रसादोत्तर स्वातन्त्र्य-पूर्व नाटककारों की रस-विषयक अवधारणा

प्रसादोत्तर स्वातन्त्र्य-पूर्व नाटककारों में उनकी भी गणना होती रही है जो प्रसाद के समकालीन हैं । इसका प्रधान कारण यह है कि इन नाटककारों का नाट्य-सृजन प्रसाद के निधन के बाद भी अनवरत गति से चलता रहा है । काल-क्रम की दृष्टि से जी० पी० श्रीवास्तव इन नाटककारों में पहले हैं । एक प्रहसनकार के रूप में ये प्रसिद्ध हैं और हास्यरस के लेखकों में इनका प्रमुख स्थान है । अपनी प्रकृति के अनुरूप इन्होंने नाट्य-भेदों की मीमांसा की है । इनकी यह विवेचना नितान्त मौलिक न होते हुए भी उनकी अपनी दृष्टि की छाप लिए है । उनका कथन है कि "योरप में पहले दो प्रकार के नाटक हुआ करते थे—शोकप्रधान दुखान्त और हास्यप्रधान सुखान्त । हम पर हमारे देश और समाज पर धर्म का प्रभाव अधिक होने के कारण यहाँ धार्मिक प्रसंगों तथा गुणों को सर्वविजयी करके दिखाना जरूरी था । इसीलिए हमारे यहाँ तीसरे प्रकार के नाटक अर्थात् शोक या करुणप्रधान सुखान्त नाटक की कल्पना की गई थी; जिसमें हास्य का कुछ-न-कुछ स्थान रहता ही था ।···अब योरप वाले भी अपने गम्भीर नाटकों को करीब-करीब इसी रूप में ढालने लगे हैं, जिसका नाम उन्होंने Trage Comedy रखा है । इस तरह उन्हें भी अब अपने नाटकों में हास्य की ओर ध्यान देना

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, प्रधान सम्पादक : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ४०६
२. विस्तार के लिए देखिए—रस-संख्या : काव्यशास्त्रीय विश्लेषण, पृ० १२८-२६
३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ८२
४. द्रष्टव्य—हिन्दी नाट्य-चिन्तन, पृ० ११५-२३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पड़ गया है।"[1] स्पष्टतः श्रीवास्तव जी शोकप्रधान दुखान्त हास्यप्रधान सुखान्त और शोक या करुणप्रधान सुखान्त नाट्य-भेदों की स्वीकृति के पक्ष में भी हैं, किन्तु वे शोक-प्रधान दुखान्त नाटकों को विशेष महत्त्व देते प्रतीत नहीं होते। इस दृष्टि से वे भारतीय आचार्यों के ही अधिक निकट बैठते हैं। शोकप्रधान दुखान्त नाटकों पर अधिक विचार न कर इन्होंने सुखान्त नाटकों पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखी है।

'कामेडी' को मात्र सुखान्त नाटक न मानकर श्रीवास्तव जी ने इसे हास्य-प्रधान सुखान्त नाटक माना है। उनके शब्दों में, 'कामेडी को हमारे यहाँ कुछ लोग केवल सुखान्त समझते हैं, मगर नहीं, यह वह नाटक है जो सुखान्त होने के अतिरिक्त हास्य-प्रधान भी हो।'[2] स्पष्टतः उनके मतानुसार कामदी वह नाट्य-भेद है, जिसका अंगी हास्य है।

'शोकप्रधान सुखान्त' भेद वस्तुतः भारतीय दृष्टि के निकट है। करुण रस-प्रधान नाटकों को भी भारतीय आचार्य अन्ततः सुखान्त बनाने के ही पक्षधर रहे हैं। श्रीवास्तव जी के मत में, ऐसे नाटकों में हास्य का प्रयोग अत्यन्त सावधानी, जागरूकता और सूझ-बूझ के साथ करना चाहिए : 'मगर हास्य को ऐसे नाटकों में इस तरह फूँक-फूँक कर कदम रखना पड़ता है, जिससे गम्भीर अंश का खेल बिगड़ने न पावे, बल्कि इसकी तुलना से उसका रंग और चोखा पड़ जाय। इसलिए जहाँ रुलाना है वहाँ से दूर भागना चाहिए, और जहाँ शांति और सन्तोष देना है, या कहानी में अपनी विचित्रता से सजीवता और स्वाभाविकता का रंग चमकाना है, वहाँ वह अपनी झलक दिखा दे।'[3] स्पष्टतः 'शोकप्रधान सुखान्त' नाटकों में हास्य अंग-भूत है और उसका लक्ष्य अंगी-करुण के प्रभाव को गहराना अथवा आवश्यकतानुरूप तनाव को कम करना है। उसका प्रयोग नाट्य-स्थितियों के अनुरूप इस प्रकार करना चाहिए कि समग्र नाट्य-प्रभाव विशृंखल अथवा खण्डित न हो।

कामदी के तीन प्रमुख भेद स्वीकार कर विवेच्य नाट्यकार ने हास्योद्रेक के माध्यम को ही उनका व्यावर्तक माना है—'कहने के लिए हास्य-प्रधान नाटक के कई भेद हैं, पर मुख्य तीन हैं—(१) घटना नाटक (Comedy of Intrigues) जब यह घटना तथा स्थितियों की तरतीब से हँसाता है। (२) प्रथा नाटक (Comedy of manners) जब यह कुप्रथाओं की हँसी उड़ाता है। (३) चरित्र नाटक (Comedy of humours) जब यह मानवीय मूर्खताओं की खिल्ली उड़ाता है।'[4] इन सबमें हास्य का अंगित्व तो असंदिग्ध है ही।

प्रहसन में भी हास्य का प्राधान्य होता है, पर इसमें न तो चरित्र-सृष्टि पर ही नाटककार ध्यान देता है और न कथा की शृंखलाबद्धता, स्वाभाविकता और सुगठितता

---

१. सुधा, फाल्गुन, ३१३ तुलसी-संवत्, पृ० १५५
२-३. वही, पृ० १५६
४. वही, पृ० १५६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पर ही, अतः कामदी से भिन्न, 'नाटक के दर्जे से गिरा' यह एक निम्नस्तर नाट्य-रूप है। जे० पी० श्रीवास्तव के शब्दों में, "जिसमें चरित्र-चित्रण नहीं होता, और कहानी भी इतनी वेतुकी होती है कि स्वाभाविकता का भ्रम नहीं पैदा कर सकती, तब वह नाटक के दर्जे से गिरकर कोरा प्रहसन (Farce) होकर रह जाता है।"[1] कतिपय पाश्चात्य नाट्यालोचकों ने भी प्रहसन के संदर्भ में इन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति की है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जी० पी० श्रीवास्तव की नाट्य-भेद-मीमांसा रसाश्रित है और इस तथ्य का प्रमाण है कि वे किसी नाट्य-कृति की सफलता उसके नाट्य-रूप के अनुरूप रस-निर्भर होने में मानते हैं।

प्रसाद के समसामयिक होने पर भी सेठ गोविन्ददास अपनी परवर्ती नाट्य-कृतियों के कारण प्रसादोत्तर प्राक्-स्वातन्त्र्य नाटककारों में गणनीय हैं। सेठ जी ने मोटे रूप से कलाओं के उपयोगी और ललित दो वर्ग स्वीकार कर ललितकलाओं का सम्वन्ध नौ रसों से जोड़ा है: "कला के भारतीय विद्वानों ने चौंसठ विभाग किये हैं। परन्तु मोटे रूप से कला के दो भाग हैं। एक उपयोगी कला अर्थात् जिसका पार्थिव उपयोग संभव है और दूसरी ललित कला, जो अपने दर्शन अथवा श्रवण से उन भावनाओं की उत्पत्ति करती है, जिनसे किसी-न-किसी रस की निष्पत्ति होती है।"[2] कला और विज्ञान के अन्तर पर विचार करने के उपरान्त वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विज्ञान का सम्वन्ध उपयोगिता से और ललित कला का रस से है।[3]

सेठ जी ने ललित कलाओं में दृश्य काव्य को सर्वश्रेष्ठ माना है। उनके शब्दों में, "ललित कलाओं में काव्यकला का सर्वोच्च स्थान है। काव्य कला में दृश्य काव्य का।"[4] काव्यकला में दृश्य काव्य का शीर्षस्थ स्थान क्यों है?—इस पर विचार करते हुए इसका उत्तर सेठ गोविन्द दास ने इन शब्दों में दिया है: 'कथा-विशेष जब अभिनय, प्रदर्शन के साथ प्रत्यक्ष कलात्मक रूप में प्रस्तुत हो तो वह नाट्य कहा जायेगा। इसके साथ ही वह दृश्य एवं श्रव्य होने के कारण रस-निष्पत्ति में समर्थ होकर काव्य-कला की एक प्रधान विधा के रूप में आदरणीय है।"[5] स्पष्टतः काव्य, संगीत, नृत्य आदि कलाओं के योग एवं प्रत्यक्षता के कारण दृश्य काव्य अधिक रसात्मक होने से ललितकलाओं में सर्वश्रेष्ठ है। प्राचीन आचार्यों ने भी 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहकर इसी मत की पुष्टि की है।

नाटक में कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद-योजना, रंगशिल्प आदि के महत्त्व को स्वीकार करने पर भी सेठ गोविन्ददास ने नाटक की श्रेष्ठता का रहस्य उसकी

---

१. सुधा, फाल्गुन, ३१३ तुलसी संवत्, पृ० १५६
२. नाट्य-कला मीमांसा, पृ० ७-८
३. वही, पृ० ९
४. वही, पृ० १७
५. वही, पृ० १७-१८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रसवत्ता में ही बताया है। इस ओर नाटककारों और नाट्यालोचकों का अवधान आकर्षित करते हुए वे लिखते हैं—

"परन्तु, ध्यान रहे, उपर्युक्त समस्त बातों के होते हुए भी यदि किसी नाटक में "रस" या "इमोशन" का प्रादुर्भाव न हो तो वह कला का कोई उत्तम नमूना नहीं कहा जा सकता। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से युक्त स्थायी भाव के व्यंजित होने से होती है। नाटक पढ़ने और देखने दोनों की वस्तु है और चूँकि नाटक श्रवणेन्द्रिय और दृश्येन्द्रिय दोनों ही मार्गों से हृदय के भावों को उद्दीप्त करता है इसलिए श्रव्य-काव्य की अपेक्षा नाटक में रस का परिपाक कहीं अधिक सफलता से हो सकता है, किन्तु इस सफलता को प्राप्त करना सरल नहीं है। थोड़ी-सी असावधानी से ही नाटक में रस-भंग होने का भय रहता है। यही कारण है कि अनेक नाटक जो पढ़ने में अच्छे जान पड़ते हैं, वे रंगमंच पर सफल नहीं होते और जो रंगमंच पर सफल होते हैं उनमें पढ़ते समय कोई विशेषता नहीं दिखती।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि सेठ जी के अनुसार किसी भी दृष्टि से किसी नाटक की असफलता का मुख्य कारण है रस-भंग। नाटक का रस-विधान यदि ठीक है और वह पाठकों-दर्शकों को रसानुभूति कराने में यदि समर्थ है तो उसकी उत्कृष्टता और सफलता में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं। सेठ जी के उपर्युक्त कथन से प्रकारान्तर से यह भी व्यंजित है कि वे रस को नाटक में आत्म-स्थानीय मानते हैं। अन्यत्र उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'नाटक का लक्ष्य है रसोत्पत्ति और माध्यम है कथोपकथन।'[2]

नाटक में साधारणीकरण का असाधारण महत्त्व है। यह सिद्धान्त जहाँ रस-निष्पत्ति की पूर्व-पीठिका तैयार करता है वहाँ वैयक्तिक अनुभूतियों को निर्वैयक्तिक बनाकर सार्वजनीन और सर्वजनसंवेद्य भी बना देता है। साधारणीकरण की इस शक्ति को स्वीकार करते हुए सेठ गोविन्ददास ने लिखा है कि 'जब व्यक्तिगत अनुभूतियाँ साधारणीकरण की स्थिति प्राप्त कर लेती हैं तो वह सम्पूर्ण मानव-जाति की अनुभूतियाँ बन जाती हैं।'[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने इस कथन के द्वारा सेठजी ने प्रकारान्तर से यह स्वीकार कर लिया है कि साधारणीकरण वैयक्तिक अनुभूतियों को देशकालादि के बन्धनों से मुक्त कर देता है।

रसों की संख्या के विषय में सेठ गोविन्ददास का दृष्टिकोण परम्परावादी है। 'नाट्य-कला मीमांसा' में उन्होंने अनेकत्र नौ रसों का उल्लेख किया है।[4] हास्य के अतिरिक्त शेष रसों पर उन्होंने जमकर विचार नहीं किया, किन्तु हास्यरस के विषय में

१. नाट्य-कला मीमांसा, पृ० ३५
२. वही, पृ० २६
३. वही, पृ० १७
४. वही, पृ० ८, २०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उनका विवेचन अपेक्षाकृत विस्तृत और कहीं-कहीं मौलिक भी है। उनके मत में, '··· अन्य रसों की सामग्री जुटाने की अपेक्षा हास्य रस की सामग्री का ठीक ढंग से जुटाना सदा कठिन रहता है और नाटकों में हास्य रस की सदा ही प्रधानता रही है। हास्य रस की उत्पत्ति के लिए प्राचीन संस्कृत नाटकों में विदूषक प्रायः हर नाटक में रखा जाता था। पारसी नाटक कम्पनियाँ नाटक के साथ हास्य रस की एक 'नकल' ही किया करती थीं चाहे वह नकल प्रायः भद्दी और अश्लील ही क्यों न हो।'[1]

हास्य के महत्त्व और आवश्यक नाटकीय गुण के स्वीकार के बावजूद सेठजी के मतानुसार '···सभी नाटकों में यह नहीं रखा जा सकता। किसी-किसी नाटक में हास्य रस रखने से उसके रस परिपाक में बड़ी बाधा पहुँचती है, यहाँ तक कि कभी-कभी तो बड़ी बुरी तरह रस-भंग हो जाता है। परन्तु यह यहाँ न समझ लिया जाए कि दुःखान्त नाटकों में हास्य रस नहीं रखा जा सकता। अनेक दुखान्त नाटकों में भी यह सफलतापूर्वक रखा जा सकता है।'[2] नाटकों में हास्य रस के प्रयोग के विषय में सेठ गोविन्ददास का उपर्यंकित मत समीचीन है। जब तक नाटककार हास्य का सहज, स्वाभाविक और नाटकीय माँग के अनुरूप जागरूकतापूर्वक प्रयोग न करेगा, तब तक नाट्य-कृति के समग्रप्रभाव के खण्डित होने अथवा बिखर जाने का भय बना रहेगा।

हास्य की उत्पत्ति किन कारणों से होती है और उनमें से कौन-सा हास्य किस कोटि का है, इस पर सेठ गोविन्ददास ने विचार किया है। उनके शब्दों में, 'हास्य की उत्पत्ति किसी असाधारण या विकृत वस्तु के देखने अथवा सुनने से होती है, यद्यपि सभी असाधारण या विकृत वस्तुओं के देखने या सुनने से हास्य का प्रादुर्भाव नहीं होता। प्रधानतया जिन बातों से हास्य की उत्पत्ति होती है, वे हैं—

१. असाधारण या विकृत रूप।
२. असाधारण या विकृत वेश।
३. असाधारण या विकृत संकेत।
४. असाधारण या विकृत चरित्र।
५. असाधारण या विकृत परिस्थिति।
६. असाधारण या विकृत शब्द और वाक्य।'[3]

उपर्युक्त कारणों में से १ से ४ तक जिस हास्य की सृष्टि होती है, उसे सेठजी ने साधारण कोटि का हास्य माना है। 'मन पर उसका कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। पाँचवें और छठवें प्रकार का हास्य उच्चकोटि का है और मन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है।'[4]

---

१. नाट्य कला मीमांसा, पृ० २०
२. वही, पृ० २०
३. वही, पृ० २०-२१
४. वही, पृ० २१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

असाधारण या विकृत शब्दों-वाक्यों से जिस हास्य की उत्पत्ति होती है, सेठजी के मतानुसार, वह सर्वश्रेष्ठ है। इसी का दूसरा नाम 'व्यंग्य' है। पश्चिम में इसी के तीन मोटे विभाग किए गए हैं, सेटायर, विट और ह्यूमर। इन तीनों का भी हास्य रस में 'बड़ी सुन्दरता के साथ उपयोग किया जा सकता है। अनेक बार उपर्युक्त छहों प्रकार के हास्य का इकट्ठा उपयोग कर विलक्षण परिस्थिति उत्पन्न की जा सकती है।'[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि सेठजी का यह विवेचन तथ्याश्रित और मनोविज्ञान सम्मत है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सेठ गोविन्ददास ने नाटक के सन्दर्भ में रस पर पर्याप्त विस्तार से विचार किया है। उनके समकालीन गोविन्दवल्लभ पन्त ने यद्यपि सरस नाटकों की रचना की है तथापि सैद्धान्तिक विवेचन में रस-चर्चा को विशेष स्थान नहीं दिया है। नाट्य-भाषा की 'सरलता' ही उनकी दृष्टि में 'सरसता' भी है: 'लेकिन इसके लिए भाषा की सरलता जरूरी है। सरलता ही सरसता भी है। तभी लेखक व्यापक होकर अपने उद्देश्य में सफल होता है और तभी बहुजन हिताय बहुजन सुखाय का आदर्श सिद्ध होता है।'[2] निश्चय ही नाटक में भाषा की सरलता का महत्त्व है, पर सरलता को ही सरसता मान लेना एकांगी दृष्टि का परिचायक है। यों सरल भाषा भाव-संप्रेषण में अधिक समर्थ होने से रस-सिद्धि में जितनी सहायक हो सकती है, दुरूह भाषा उतनी सहायक नहीं हो सकती।

गोविन्दवल्लभ पंत की अपेक्षा उदयशंकर भट्ट ने नाटक में रस अथवा भाव के महत्त्व को अधिक स्पष्ट शब्दों में स्वीकृति दी है। अपने सुप्रसिद्ध नाटक 'दाहर अथवा सिंधपतन' की भूमिका में वे लिखते हैं—'हृदय की वर्गीभूत चेतनाओं का, मानवीय राग-द्वेषों के द्वन्द्वों का, आशा और निराशा का, भावुकता और क्रूरता का, सुख और दुख का प्रतिचित्रण और ऐसे विचार की अवतारणा जिस कला के द्वारा हो, कदाचित् उसे नाट्यकला के नाम से पुकारा जाता है।'[3] स्पष्टतः भट्ट जी नाटक में मानव मनोभावों का चित्रण अनिवार्य मानते हैं। अन्यत्र उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मानव-मन को रमाने की जैसी क्षमता दुःखान्त नाटकों में है, वैसी सुखान्त नाटकों में नहीं: 'नाट्यकला का जो वास्तविक तत्त्व है वह वियोगान्त नाटकों में ही प्रतिफलित होता है। संयोग की कल्पना तथा उसका सुख ससीम है, उसमें अनुभूति को बहुत हाथ-पैर नहीं मारने पड़ते, परन्तु वियोग की अनुभूति मनुष्य को तन्मय बना देती है।··· वियोगान्त नाटकों की रचना न होने पर भी संस्कृत और हिन्दी साहित्य में विप्रलंभ शृंगार का वर्णन अधिक रहता है। इससे भी यही ज्ञात होता है कि वियोगान्त का प्रभाव चिरस्थायी एवं शाश्वत होता है।'[4]

---

१ नाट्य कला मीमांसा, पृ० २१
२. अधूरी मूर्ति, प्रस्तावना, पृ० ८
३. दाहर अथवा सिंधपतन, भूमिका, पृ० च
४. वही, भूमिका, पृ० झ-ञ

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सैद्धांतिक कथन के रूप में ही नहीं, व्यावहारिक धरातल पर भी उदयशंकर भट्ट ने रस, अनुभूति अथवा मूल भाव के महत्त्व को स्वीकार किया है। अपनी नाट्य-लेखन-प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए एक भेंट में उन्होंने रामचरण महेन्द्र को बताया कि 'मेरी दृष्टि मूल भाव पर रहती है। मैं टेकनीक को वहीं तक उपयोगी मानता हूँ, जहाँ तक वह मूल भाव या समस्या को उद्दीप्त करे और यथार्थवादिता को नष्ट न करे। मैं टेकनीक के कृत्रिम बंधनों में नहीं बँधना चाहता।'[1]

गीतिनाट्य में—जिसे भट्ट जी भावनाट्य की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त मानते हैं—तो रस अथवा भाव का महत्त्व और भी अधिक है। भट्ट जी के शब्दों में, 'कवितावद्ध नाटकों को इतिहास में गीतिनाट्य की संज्ञा दी गयी है। इन नाटकों में मानव के हृदय के संचारी भाव का अभिव्यक्तीकरण होता है। क्रिया इनमें है, पर सामान्य नाटकों की भाँति नहीं। इसमें क्रिया मानसिक है। इसी से भावों का उत्थान-पतन होता है। जहाँ गीति-पद्य में स्वरस भावों का संचालन होता है, उसे गीतिनाट्य कहते हैं।...मन के विकारों को मनोभाव कहते हैं। दूसरे शब्दों में भाव मानसिक आवेग हैं। इनसे आन्तरिक सृष्टि का संचालन होता है। इन्हीं भावों का चित्रण भाव नाटकों में है, इसीसे मैंने इसकी संज्ञा भावनाट्य दी है, गद्य की अपेक्षा पद्य में भावों के सूक्ष्म-चित्रण, कल्पना का योग तथा मर्मस्पर्शिता का अवसर अधिक रहता है।'[2] स्पष्टतः भट्ट जी नाटक में रस-भाव के योग को अनिवार्य मानते हैं।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र की ख्याति का मूलाधार यद्यपि उनके समस्या नाटक हैं, तथापि उन्होंने अनेक ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों की भी सृष्टि की है। अपने समस्या-प्रधान सामाजिक नाटकों की भूमिकाओं में जहाँ उन्होंने बुद्धिवाद का समर्थन किया है, वहाँ इसके प्रति मोह-भंग के बाद संस्कृतिप्रधान ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों की भूमिकाओं में रसवाद का। 'मुक्ति का रहस्य' के प्रथम संस्करण की भूमिका मैं बुद्धि-वादी क्यों हूँ ?' में व्यक्त विचारों पर 'उन्नीस वर्ष बाद' शीर्षक भूमिका, में पश्चाताप प्रकट करते हुए मिश्रजी ने लिखा है : 'इस नाटक की भूमिका 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ' में, उस समय जो कुछ लिखा गया, मैं अब स्वीकार करता हूँ, वह मेरा बुद्धिवाद नहीं था। कहना मुझे यह था कि साहित्य और कला में पश्चिम का अनुकरण न कर हमें अपने भाव-लोक का अनुसरण करना है।'[3] मिश्रजी का यह पश्चाताप प्रकारान्तर से, बुद्धिवाद पर रस-सिद्धांत का ही जयघोष है।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र की रस-सिद्धान्त में दृढ़ आस्था है। अपने अनेक नाटकों की भूमिकाओं में उन्होंने रस को नाटक का प्राणाधायक तत्त्व माना है। उनकी दृष्टि में नाटककार को रस-सिद्धि के लिए ही प्रयत्नशील होना चाहिए अन्यथा नाटक

---

१. राष्ट्र भारती, अगस्त १९५३, पृ० ६१०
२. विश्वामित्र और दो भावनाट्य, भूमिका, पृ० १
३. मुक्ति का रहस्य, 'उन्नीस वर्ष बाद' शीर्षक भूमिका,

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

सामयिक आलोचना-मात्र बनकर रह जायेगा : 'संस्कृत में, नाटक भी काव्य के अन्तर्गत माना गया है और इस मान्यता से मुझे अँग्रेज़ी आलोचना-पद्धति अभी तक नहीं हटा सकी है। जीवन चरित के अंशों को संवादों में बाँध देना नाटक नहीं होगा। रस के स्थल कहाँ और कैसे उत्पन्न किये जायेंगे ? अनुराग के, हास्य के, करुणा के, भय और उत्साह के अवसर जो न आयें तो फिर नाटक समय की आलोचना भले बन जाए, हमारे मन को रससिक्त तो न कर पायेगा।'[1] इस प्रकार मिश्रजी के अनुसार, नाट्य की स्थिति संवादाश्रित न होकर रसाश्रित ही है।

भारतीय रस-पद्धति की व्यापकता, मानवीयता एवं मनोवैज्ञानिकता भी मिश्र जी को स्वीकार है। उनके शब्दों में, 'रस और आनन्द किसी एक व्यक्ति का न होकर समूचे विश्व का है···मानवीय चेतना विधि और व्यवहार के नाना रूप, त्रिगुणात्मिका सृष्टि के विविध कर्म, उसके अवचेतन की वासना आधुनिक मनोविज्ञान जो कुछ जाना और समझा जा रहा है, वह सब भरत के नाट्यशास्त्र में बीज रूप में पर शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति में आ गया है।'[2] निःसंदेह रस-सिद्धान्त सांस्कृतिक और मानवीय भूमिका पर अधिष्ठित होने के कारण अत्यन्त व्यापक, सार्वभौम और सार्वकालीन काव्य-सिद्धान्त है। इसमें भारतीय मेधा का दर्शन ही नहीं, मनोविज्ञान भी अन्तर्भुक्त है।

ऐतिहासिक-सांस्कृतिक नाटकों के लेखन में मिश्रजी ने भारतीय रस-पद्धति का सायास पालन किया है एवं उनकी भूमिकाओं में उनके रस-विधान का भी उल्लेख किया है। 'चक्रव्यूह' की 'पूर्वरंग' शीर्षक भूमिका में वे लिखते हैं : 'केवल युद्ध को आधार बनाकर नाटक लिखना नाटक के भारतीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल होता है। भरत ने रंगमंच पर जिन व्यापारों का निषेध किया है, उनमें युद्ध भी है। इस कठिनाई को पार करने के लिए युद्ध का चित्रण अन्य पात्रों के माध्यम से कहीं सूच्य है और कहीं नेपथ्य की आड़ में। फिर भी वीर और रौद्र रस का परिपाक अभिमन्यु के रणकौशल में है। लक्ष्मण के साथ उसके समर में करुण रस आरम्भ होकर उस समय व्यापक हो उठता है, जब सुयोधन अपने एकमात्र पुत्र लक्ष्मण के निधन के बाद भी अभिमन्यु की प्राण-रक्षा में दौड़ पड़ता है और अन्त में अभिमन्यु का शीश अपनी गोद में लेकर क्रोध और वैर से छूट कर तन्मय हो जाता है। नाटक के आरम्भ में धर्मराज और द्रौपदी का अभिमन्यु के प्रति अनुराग, सुभद्रा का पुत्र-प्रेम, उत्तरा का पत्नी-धर्म और अन्त में पितामह भीष्म की बाण शय्या के निकट के व्यापार नाटक को करुण रस-प्रधान कर गये हैं।'[3] इसी प्रकार 'वैशाली में वसन्त' के रस-विधान और उस नाटक की रसानुकूलता का स्वीकार इन शब्दों में किया गया है—प्रस्तुत नाटक 'वैशाली में वसन्त' यथाशक्ति रस-पद्धति पर लिखा गया है। श्रृंगार, हास्य, करुण, वीर,

---

१. मृत्युंजय, 'यह संकल्प' शीर्षक भूमिका, पृ० ६
२. दशाश्वमेध, भूमिका, पृ० ७-८
३. चक्रव्यूह, 'पूर्वरंग', पृ० ५-६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

वात्सल्य आदि सभी नाटक के आवश्यक रस इसमें आ गए हैं।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्रजी ने रस-सिद्धांत की महत्ता को केवल सैद्धान्तिक धरातल पर ही स्वीकार नहीं किया है वरन् अपने अनेक नाटकों के रस-विधान—रसों के अंगांगित्व का भी, उनकी भूमिकाओं में उल्लेख किया है। रस-सिद्धान्त के प्रति उनकी यह सजगता उन्हें रस-सिद्धान्त का प्रवल समर्थक सिद्ध करने को पर्याप्त है।

प्रसादोत्तर स्वातंत्र्यपूर्व हिन्दी नाटककारों, विशेषकर एकांकीकारों में डॉ० रामकुमार वर्मा का विशिष्ट स्थान है। भारतीय रस-सिद्धान्त में पूरी आस्था के बावजूद आधुनिक मनोविज्ञान के प्रति भी उनके मन में मोह है—फलत: नाटक में रस के महत्त्व-स्वीकार के साथ उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संघर्ष को भी महत्त्व दिया है। पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप रस-सिद्धान्त के वहिष्कार के कतिपय कारणों का पूर्व-पक्ष के रूप में उल्लेख[2] करने के उपरान्त डॉ० रामकुमार वर्मा ने उत्तरपक्ष के अन्तर्गत अपना मन्तव्य इन शब्दों में व्यक्त किया है—'मेरी दृष्टि में 'रस' अमर है। वह काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग अब भी है। जब तक काव्य रहेगा, रस की सृष्टि निरंतर होगी अथवा रस अपनी अभिव्यक्ति के लिए काव्य का शरीर अवश्य ही ग्रहण करेगा। यह बात दूसरी है कि रस अपने अभिव्यक्तीकरण के लिए कोई दूसरी शैली ग्रहण करे।'[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ काव्य से श्रव्य काव्य का ही नहीं, दृश्य काव्य का भी समाहार है। आगे चलकर डॉ० वर्मा ने यह मत भी व्यस्त किया है कि 'प्राचीन पारिभाषिक शब्दों में कहा जाय तो आधुनिक हिन्दी काव्य स्थाई भाव की अपेक्षा संचारी भावों में अधिक पोषित हुआ है।'[4] समसामयिक नाट्य-लेखन के संदर्भ में भी यही बात कही जा सकती है। डॉ० रामकुमार वर्मा यह भी स्वीकार करते हैं कि आधुनिक नाटक रस की अपेक्षा मनोविज्ञान के निकट है। उनके शब्दों में 'रस की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक संघर्ष ही आधुनिक नाटककारों को स्वीकार हुआ।'[5] वस्तुतः वे रस और आधुनिक मनोविज्ञान में समन्वय के पक्षपाती है। 'कला और कृपाण' की भूमिका में इस ओर सकेत करते हुए उन्होंने लिखा है : 'नाट्यकला की सफलता इसी में है कि सामान्य दर्शक उसमें रस ले सकें और नाट्यकला के पण्डित भी उसे उत्कृष्ट समझें। इसमें न तो दर्शक को उबा देने वाले उपदेशात्मक संवाद हों और न दुर्बोध भाषा। उसमें विभिन्न रसों का समावेश, कुतूहल की भावना और प्रेषणीयता होनी चाहिए। रस का स्थान आज मनोविज्ञान ने ले लिया है। मैं दोनों के समन्वय का पक्ष-

---

१. वैशाली में वसन्त, भूमिका, पृ० १२
२. द्रष्टव्य—काव्य शास्त्र, प्रधान सं०—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (डॉ० रामकुमा वर्मा का 'साहित्य में रस और मनोविज्ञान की स्थिति' शीर्षक लेख), पृ० ७१-७२
३-४. वही, पृ० ७२
५. शिवाजी, भूमिका, पृ० ७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पाती हूँ।'[1] यहाँ यह उल्लेख्य है कि 'रस-सिद्धान्त के पोषक प्राचीन भारतीय आचार्यों ने भावों का जो विश्लेषण-विवेचन किया है, उसका आधुनिक मनोविज्ञान से पर्याप्त साम्य है। भावों का जैसा सुस्पष्ट, प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण विवेचन इन आचार्यों ने किया है वैसा काव्यगत भावों के संदर्भ में अन्यत्र नहीं हुआ। × × × आज के विकसित मनोविज्ञान के संदर्भ में भी उसका औचित्य और प्रामाण्य सिद्ध होता है। भारतीय आचार्यों ने मनोविज्ञान की आधुनिक शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है, कर भी नहीं सकते थे। कारण स्पष्ट है—साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रायः रस की व्याख्या का प्रयत्न किया गया है। फिर भी रस-सिद्धान्त का आज तक जो विवेचन हुआ है, उसमें मानसिक प्रक्रिया का विश्लेषण भी न्यूनाधिक होता रहा है।'[2] निश्चयतः, रस-सिद्धान्त एक विकसनशील सिद्धान्त रहा है और आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में भी उसका पुनर्मूल्यांकन कर विकास किया जा सकता है।

रस और मनोविज्ञान के समन्वय के विषय में डॉ० रामकुमार वर्मा ने जो विचार व्यक्त किये हैं, तदनुकूल नाट्य-सृष्टि का प्रयत्न भी किया है। अपनी इस सृजन-भूमिका का उल्लेख 'दीपदान' की भूमिका में डॉ० वर्मा ने इन शब्दों में किया है : 'रस-सिद्धान्त का नाटक में विशेष स्थान है। मैं इसे संस्कृत नाट्य-साहित्य की सबसे बड़ी देन मानता हूँ। इसे अनुभव कर मैं मनोविज्ञान और ऐतिहासिक तथ्य का समन्वय कर नाटक की रचना करता हूँ।' (पृ० २८) नाट्य में रस-विधान की दृष्टि से संस्कृत के मान्य आचार्यों ने रसों के अंगांगित्व एवं विरोधाविरोध की जो धारणाएँ व्यक्त की हैं उनसे डॉ० वर्मा सहमत तो हैं ही अपने नाट्य-सृजन में उनका पालन करने का प्रयत्न भी उन्होंने किया है। 'कला और कृपाण' की भूमिका में वे लिखते हैं: 'नाटक की परिणति करुण रस में हुई है। अन्य रसों की अपेक्षा करुण रस का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। श्रृंगार, हास्य, वीर आदि रस करुण रस के सहायक ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार नाटक में करुण रस के साथ अन्य रस भी आ गए हैं।' (पृ० १३) उनके इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि वे करुण रस के प्रभाव को अन्य रसों की अपेक्षा अधिक स्थायी मानते हैं।

नाटक के स्वरूप का विवेचन करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने उसके दो पार्श्व स्वीकार किए है : 'नाटक दृश्य काव्य है जिसमें नृत्य, संगीत और अभिनय हृदय की ललित सृष्टि को एक आकर्षक रूप प्रदान करते हैं। इस भाँति नाटक के दो पार्श्व हैं। प्रथम तो हृदय की वे समस्त अनुभूतियाँ हैं जो मनोविज्ञान या रस से ओत-प्रोत होकर जीवन के यथार्थ या आदर्श में प्रतिफलित होती हैं और द्वितीय परिस्थिति की वे समस्त रूपरेखाएँ हैं जो मंच, वेशभूषा, नृत्य, संगीत और अभिनय का माध्यम ग्रहण करती हैं। ये दोनों पार्श्व नाटक के लिए अनिवार्य हैं। दोनों में यदि एक की हानि

१. कला और कृपाण, भूमिका, पृ० ३
२. रस-सिद्धान्त : आक्षेप और समाधान, सुन्दर लाल कथूरिया, पृ० ९८, १०६-१०७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

होगी तो नाटक अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकेगा।'[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ० वर्मा नाट्य के प्रथम पार्श्व के रूप में हृदयस्थ अनुभूतियों को मान्यता देकर द्वितीय पार्श्व के रूप में रंग-विधान में सहायक उपकरणों को स्वीकार करते हैं। अन्यत्र उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि रंगोपकरणों की सफलता रस-सिद्धि में ही है : 'मेरी दृष्टि से रसात्मकता के आग्रह ने ही मंच की सृष्टि की होगी, क्योंकि रसात्मकता के वाह्य प्रदर्शन के लिए एक सजे हुए मंच की अपेक्षा है।'[2] उनके इस सन्तुलित दृष्टिकोण से असहमत नहीं हुआ जा सकता।

डॉ० रामकुमार वर्मा सभी प्रकार के नाटकों में हास्य की योजना के पक्षपाती हैं। उनके शब्दों में, 'मैं नाटक में हास्य, व्यंग्य और विनोद रखने के पक्ष में अवश्य हूँ। इसीलिए गम्भीर नाटकों में भी यथावसर व्यंग्य और विनोद के चित्र मिल जाते हैं।'[3] उनकी दृष्टि में 'प्रत्येक रस में हास्य की सम्भावनाएँ हो सकती हैं।'[4] मनोवैज्ञानिक धरातल पर हास्योत्पत्ति के पाँच आधार—सहज, दृष्टि विकार, भाव विकार, ध्वनि विकार और बुद्धि विकार स्वीकार कर उन्होंने उसके दस भेद माने हैं जो इस प्रकार हैं—विनोद, अट्टहास, अतिरंजना, विद्रूप, परिहास, उपहास, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, व्यंग्य एवं विकृति।[5] डॉ० वर्मा का विश्वास है कि इन दस प्रकारों में हास्य के प्रायः सभी प्रचलित रूप अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। हास्य रस विषयक डॉ० वर्मा के इस वर्गीकरण पर हिन्दी साहित्य कोश (भाग १) के टिप्पणीकार डॉ० जगदीश गुप्त ने अपना मतभेद इस प्रकार व्यक्त किया है : 'कुछ बातों पर सरलता से आपत्ति की जा सकती है, जैसे विनोद और व्याजोक्ति जो 'विट' के रूप माने गये हैं, उन्हें बुद्धि-विकार से अलग मानना और 'सहज' तथा 'ध्वनि विकार' नामक वर्गों में रखना। वक्रोक्ति भी काव्यशास्त्र में दो प्रकार की मानी गयी है—१. श्लेष और २ काकु। ध्वनि विकार के अन्तर्गत केवल काकुवक्रोक्ति ही आ सकती है, श्लेषवक्रोक्ति नहीं। श्लेष या श्लेषवक्रोक्ति पर आधारित हास्य को भी किसी-न-किसी वर्ग में समाविष्ट किया जाना चाहिए था। इसी प्रकार 'व्याजोक्ति' जो वाच्यार्थ का ही एक रूप है, 'ध्वनि विकार' के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती, क्योंकि ध्वनिगत विकार उसका आधार नहीं है, न उसके लिए अनिवार्य है।' (पृ० ९६७) हास्य का जो मौलिक विभाजन डॉ० रामकुमार वर्मा ने किया है, उससे पूर्णतः सहमत भले ही न हुआ जा सके, इतना तो स्पष्ट है कि वे प्रत्येक प्रकार के नाटक में हास्य की योजना आवश्यक मानते हैं। रस विषयक उनका यह विवेचन उनकी रसाग्रही दृष्टि का प्रमाण है। उनके एतद्-विषयक समग्र विचारों का आलोडन करने पर इसमें भी कोई संदेह नहीं रह जाता कि वे भारतीय रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान में समन्वय के पक्षपाती हैं।

---

१. दीपदान, भूमिका, पृ० ११
२. वही, भूमिका, पृ० ८
३-४. रिमझिम, भूमिका, पृ० ८
५. वही, भूमिका, पृ० १०-१६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

हरिकृष्ण 'प्रेमी' प्रखर राष्ट्रीय चेतना के नाटककार हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व ही नहीं, उसके पश्चात् भी इन्होंने जिन नाटकों की सृष्टि की है, उनका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता का सम्पादन है। 'स्वप्न-भंग' की 'कुछ बातें' शीर्षक भूमिका में 'प्रेमी' जी ने लिखा है कि 'मैंने अपने नाटकों द्वारा राष्ट्रीय एकता के भाव पैदा करने का यत्न किया है। मेरे इन लघु यत्नों को राष्ट्र-यज्ञ में क्या स्थान मिलेगा, यह मैं नहीं जानता।' (पृ० ५) अपनी नाट्य-रचना के इस उद्देश्य का स्वीकार उन्होंने 'कीर्ति स्तम्भ'[1] 'उद्धार'[2], 'विदा'[3], 'भग्न प्राचीर'[4] आदि की भूमिकाओं में भी किया है। 'शपथ' के एक पात्र के मुख से भी उन्होंने अपने नाटकों के इस लक्ष्य को संकेतित कराया है: 'वत्स—यही तो मेरा अभीष्ट है। मैंने सोचा है कि स्वाधीनता-प्रेम, देश-भक्ति और वीरत्व की भावनाओं से ओत-प्रोत नाटकों के अभिनय द्वारा जन मन के यौवन को जाग्रत किया जाए।' (पृ० ६३-६४) निश्चय ही प्रेमी जी के नाटकों का समग्र विधान इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए है। उनकी इन स्वीकारोक्तियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि नाट्य-रचना में देश-भक्ति और वीरत्व की भावनाओं का अप्रतिम महत्त्व है, साथ ही, यह भी व्यंजित है कि नाटककार को देश-भक्ति अथवा वीर रस की योजना अंगी रूप में करनी चाहिए तथा अन्य रसों की अंग रस के रूप में।

प्रसादोत्तर हिन्दी नाटककारों में उपेन्द्र नाथ 'अश्क' का गौरवपूर्ण स्थान है। पराधीनता-काल से अब तक वे नाट्य-लेखन से जुड़े हैं। हिन्दी-नाटक को रंग-मंच से जोड़ने का प्राथमिक उपक्रम 'अश्क' के नाटकों में दिखायी देता है। प्रत्यक्षतः नाट्य-सृजन में रस की अनिवार्य भूमिका का विस्तृत उल्लेख न करने पर भी 'अश्क' परोक्षतः नाट्य में रस का महत्त्व स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

'पैंतरे' में 'नौटंकी से पृथ्वी थीएटर्ज तक' शीर्षक प्रस्तावना में अश्क लिखते हैं: 'अच्छा नाटक नाच-गाने के बल पर नहीं, अपने कथानक, उसके अन्तर्भूत द्वन्द्व, चुस्त चुटीले सम्वादों और अभिनेताओं के सुन्दर अभिनय के बल पर चलना चाहिए।' (पृ० ३९) इसके बावजूद वे नाटक में रस की अनिवार्य सत्ता स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। रस की चर्चा यद्यपि अश्क ने प्रत्यक्ष सिद्धान्त रूप में नहीं की, तथापि अपने स्मृति-परक विवेचन में परोक्षतः नाटक में रस के महत्त्व को उन्होंने स्वीकृति प्रदान की है। एक घटना की चर्चा करते हुए अश्क लिखते हैं: 'बम्बई में 'इपटा' के एक नाटक की घटना भुलाये नहीं भूलती। 'इपटा' 'काश्मीर डे' के सम्बन्ध में एक शो दे रहा था। सुन्दर बाई हाल में नाटक का आयोजन था। बलराज साहनी निर्देशन कर रहे थे। नाटक भी उन्हीं का लिखा था। कला की दृष्टि से नाटक वैसा सफल न था, पर बलराज के अभिनय और निर्देशन ने उसमें जान डाल दी थी। और नाटक दर्शकों को देश-काल

१. कीर्तिस्तम्भ, भूमिका, पृ० ४-५
२. उद्धार, भूमिका, पृ० ५
३. विदा, प्रस्तावना, पृ० ३
४. भग्न प्राचीर, प्रारम्भिक शब्द, पृ० ख

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की सुध भुलाये अपने साथ वहाये लिये जा रहा था। (पृ० २४) बलराज साहनी के नाटक का दर्शकों को देश-काल की सुध भुलवा कर अपने साथ वहा ले जाना स्पष्टतः साधारणीकरण और रस-दशा की महत्त्व-स्वीकृति का प्रमाण है। इसी भूमिका में अन्यत्र अश्क 'चूँ-चूँ का मुरव्वा' का जिक्र करते हुए लिखते हैं—'भाई साहव तो 'चूं-चूं का मुरव्वा' देखने को कुछ वैसे उत्सुक न थे पर मैं एक नाटक की अपेक्षा सभी नाटकों के 'मॉजनू' का रसास्वादन कर लेना बुरा न समझता था।' (पृ० ३०) कहने की आवश्यकता नहीं कि अश्क यह स्वीकार करते हैं कि नाटक से रसास्वादन होता है। अश्क ने यह भी स्वीकार किया है कि 'आज कॉमिक का स्तर बहुत ऊँचा उठ गया है...... पर पहले के कॉमिक भौंड़े हास्य की सृष्टि करते थे। (दे० पृ० ३०) अभिनय ठीक न होने पर किस प्रकार रस-प्रभाव भिन्न हो जाता है और किसी भी रस की रचना हँसी के ठहाकों से गूँज़ उठती है, इसके कुछ दिलचस्प उदाहरण अश्क ने दिए हैं। (पृ० १७, २२, २५) अपनी दर्शकीय संवेदना के आधार पर अश्क जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, अभिनवगुप्त उसी वात को सैद्धांतिक धरातल पर वहुत पहले ही स्थापित कर चुके थे। अभिनव ने लिखा था कि सभी रसों के आभास से हास्य की सृष्टि हो सकती है। अश्क ने अपने उदाहरणों में शोक को हास्य में परिणत होते दिखाया है। अन्यत्र अश्क ने लिखा है—'किन्तु दीवार का पृथ्वीराज मेरे लिए एकदम नया था। 'दीवार' के पहले अंक में (पठान में भी) उन्होंने जो अभिनय किया, वह मेरे लिए एकदम अभिनव और चमत्कारपूर्ण था। इतना सुन्दर अभिनय मैंने आज तक नहीं देखा। कुछ हिस्से तो इतने सुन्दर थे कि मन मस्तिष्क पर अमिट असर छोड़ गये हैं।'[1] यहाँ भी रस की महत्त्व-स्वीकृति है, साथ ही इस तथ्य की भी कि नाटक में रस-सृष्टि बहुत कुछ सफल अभिनय पर निर्भर करती है, और इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। कई वार तो नाटक की सरसता का रहस्य सफल अभिनय में ही होता है।

इसी प्रकार 'आदि मार्ग' की 'मैं नाटक कैसे लिखता हूँ' शीर्षक भूमिका में 'अश्क' लिखते हैं : "...मैंने शा, गाल्जवर्दी, पिरेन्देलो, और दूसरे अमरीकी, जापानी और योरुपीय नाटककारों को भी पढ़ा है। मैं उन कलाकारों की महत्ता को मानता हूँ, किन्तु इनमें से अधिकांश को पढ़ कर, चाहे मुझे कितना ही आनन्द क्यों न मिला हो, न जाने क्यों, स्वयं कोई नाटक लिखने की प्रेरणा नहीं हुई।" (पृ० १८) स्पष्टतः अश्क नाटक के पढ़ने से मिलने वाले आनन्द को—रस को स्वीकार करते हैं। यह बात अलग है कि यहाँ (और यहाँ ही क्यों, आधुनिकयुगीन प्रसादोत्तर अधिकतर नाटककारों के यहाँ) रस की प्रत्यक्ष—रस अभिधान द्वारा स्वीकृति न होकर उसके व्यापक रूप—'आनन्द' शब्द द्वारा परोक्ष स्वीकृति ही है। निःसन्देह, 'अश्क' ने यहाँ रस के शास्त्रीय रूप का आख्यान नहीं किया है; किन्तु सामान्य अर्थ में—आस्वाद रूप में, नाट्य में रस

---

१. पैंतरे, 'नौटंकी से पृथ्वी थीएटर्ज़ तक' शीर्षक भूमिका, पृ० ३५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की स्थिति उन्हें मान्य है।

प्रख्यात उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने नाट्य-सृजन भी किया है। अपने नाटकों की भूमिकाओं में यद्यपि वे रस के विषय में मौन हैं तथापि कुछ लेखों एवं नाटकीय पात्रों की उक्तियों के माध्यम से उनके एतद्-विषयक विचारों की संक्षिप्त जानकारी मिलती है। नाट्याभिनय मानव-मन के अमूर्त भावों को मूर्त-रूप में प्रस्तुत करता है—यह वर्मा जी को मान्य है। 'खिलौने की खोज' में उन्होंने अपने एक पात्र से कहलवाया है : 'नाटक मनुष्य को उसकी भीतरी वासनाओं और अन्तर्द्वन्द्वों के अभिनय का मौका देता है।' (पृ० १००)

नाट्य में, वर्मा जी भावों के यथोचित विन्यास के पक्षपाती हैं। नाटकों में अन्तःसंघर्ष की स्थिति आरोपित न होकर सहज-स्वाभाविक और प्रासंगिक होनी चाहिए—यह उनका स्पष्ट मत है। अपने इन विचारों की अभिव्यक्ति उन्होंने 'हिन्दी में खेलने योग्य नाटक' शीर्षक लेख में की है। अपने इस निबन्ध में उन्होंने लिखा है कि 'मानव-प्रकृति और भाव के दिग्दर्शन करने के विषय में अच्छे नाटक की परिभाषा कुछ अधिक कठोर है। वह यह कि भावों का घात-प्रतिघात स्वाभाविक और प्रासंगिक होना चाहिए और यह भी कि रोने-गाने और हँसने को यथोचित स्थान मिलना चाहिए।'[1] प्राचीन आचार्यों ने भी रस-भाव के औचित्य का समर्थन किया है, क्योंकि अनौचित्य रस-भंग का कारण है। वर्मा जी का उपर्युक्त मत औचित्य की परिधि में होने से ग्राह्य है।

हास्य की प्रसंगानुकूलता का उल्लेख भी उपर्युक्त निबन्ध में वृन्दावनलाल वर्मा ने किया है। औचित्य का ध्यान रखे बिना, नाट्य में सर्वत्र परिहास का समावेश रस-भंग का ही कारण होगा। इस सन्दर्भ में उनके ये विचार द्रष्टव्य हैं : 'हर जगह परिहास की भी जरूरत नहीं—अनुचित स्थान पर परिहास डालने से नाटक में असंगत भावों की सृष्टि होती है जोकि ललित कला और सुरुचि के भी विचार से तिरस्करणीय है। करुण दृश्य के बाद ही परिहास की सामग्री लाना या वीभत्स के ऊपर दिल्लगी मज़ाक का गुलाबी रंग छिड़कना न तो नाट्यकला की उन्नति कर सकता है, और न सुरुचि की।'[2] भारतीय आचार्यों ने रसों के विरोधाविरोध के विषय में जो विचार व्यक्त किये हैं, उनका प्रभाव वर्माजी के इस कथन पर देखा जा सकता है। साहित्य-दर्पणकार ने स्पष्ट शब्दों में हास्य को करुण का विरोधी माना है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संक्षिप्त होने पर भी वृन्दावनलाल वर्मा के रस विषयक विचार शास्त्र-सम्मत हैं, प्राचीन रस-चिन्तकों के निकट हैं।

प्रसादोत्तर स्वातन्त्र्य-पूर्व प्रतिनिधि नाटककारों की रस-विषयक अवधारणाओं के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक में रस की स्थिति उन्हें मान्य है। इस काल-

१. प्रभा, कार्तिक, संवत् १९८२, पृ० ४३३
२. वही, पृ० ४१२
३. द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण, ३।२५४ (उत्तरार्द्ध) २५८ (पूर्वार्द्ध)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

खण्ड के कुछ नाटककारों ने रस के शास्त्रीय रूप का समर्थन कर अपने नाटकों के रस-विधान की ओर भी संकेत किया है। रस-भेदों की दृष्टि से, इस कालावधि के नाटककारों ने प्रायः हास्य रस का ही अधिक विवेचन किया है। रस के साथ मनोविज्ञान के समावेश और भावों के घात-प्रतिघात की चर्चा भी डॉ० रामकुमार वर्मा, वृदावनलाल वर्मा आदि ने की है। इस काल-खण्ड के नाटककार रस के शास्त्रीय रूप की अपेक्षा इसके सामान्य अर्थ को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। रस का आस्वादनपरक अर्थ उन्हें मान्य है और अधिसंख्य नाटककारों ने रस की आस्वादनीयता की चर्चा भी की है।

स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों की रस-विषयक अवधारणा

स्वातन्त्र्योत्तर नाटककारों की रस-विषयक अवधारणा पर विचार करते समय यह अविस्मरणीय हैं कि इस काल-खण्ड में वे नाटककार भी सक्रिय रहे, जिनकी रस-दृष्टि का उल्लेख हम स्वातन्त्र्य-पूर्व काल में कर आये हैं। यहाँ हम उन नाटककारों की रस-विषयक मान्यताओं की चर्चा करेंगे जो स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त इस क्षेत्र में आए और ख्यात हुए। सामान्यतः इन नाटककारों ने या तो रस की चर्चा ही नहीं की, और की भी, तो रस के सामान्य अर्थ में अथवा अन्तर्द्वन्द्व, व्यंग्य आदि के रूप में।

स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त उभरने वाले नाटककारों में जगदीशचन्द्र माथुर प्रथम स्थानीय हैं। माथुर जी ने अपने नाटकों में ही नहीं, नाट्यालोचन में भी, नाटक के सन्दर्भ में, रस के महत्त्व का—नाट्य के प्रेक्षण से दर्शक को मिलने वाले आनन्द का उल्लेख किया है। 'नाटककार अश्क' में वे लिखते हैं: '...भारतीय वाङ्मय में नाटक दृश्य काव्य है—यानी कल्पना अनुभूत रस और अलंकार की वह सामंजस्यपूर्ण अभिव्यंजना जिसका आनन्द सुनकर या पढ़कर ही नहीं रंगमंच पर देखकर उठाया जा सके।' (पृ० १४) नाटककार 'अश्क' की व्यावहारिक आलोचना करते समय कहे गये माथुर जी के ये शब्द इस तथ्य के द्योतक हैं कि वे भारतीय नाट्य में रस के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। अन्यत्र भी उन्होंने कथ्य को, व्यक्ति के मानसिक उद्वेलन को शिल्प से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार कर लिखा है: "किन्तु 'फ्रेम' से भी अधिक महत्त्व है नाटक की मूल-प्रेरणा का। यह प्रेरणा वर्तमान सामाजिक समस्याओं पर केन्द्रित हो सकती है अथवा समाज और व्यक्ति के पारस्परिक घात-प्रतिघात के फलस्वरूप व्यक्ति के मर्म के विश्लेषण और उद्घाटन पर।"[1] व्यक्ति का अन्तःसंघर्ष ही नहीं, परिस्थिति और परिवेश से उसका द्वन्द्व भी आधुनिक नाटक का मूलप्रेरणा स्रोत है—यह माथुर जी को स्वीकार है। मानव-मन की गहनतम अनुभूतिओं एवं मानसिक तनाव की अभिव्यक्ति के लिए ही उन्होंने स्वगत कथन के महत्त्व को 'शारदीया' की भूमिका में स्वीकार करते हुए लिखा है: 'नायक का स्वगतालाप अभिनय निर्देशकों के

१. नटरंग, अंक ३, पृ० १३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

लिए शायद सरदर्द बन जाय, किन्तु रंगमंच विधाताओं और दर्शकों से इतना ही कहूँगा कि गहनतम भावनाओं के उद्वेलन में भी उतने ही नाटकीय तत्त्व मिल सकते हैं जितने बाह्य परिस्थितियों के संघर्ष और घटनाओं की गति में।' (पृ० ६-७) अन्तः-संघर्ष, घात-प्रतिघात या द्वन्द्व का रस से क्या सम्बन्ध है और किस रूप में वह रस की परिधि में समाविष्ट है, इस पर हम विवेच्य अध्याय के अन्त में विचार करेंगे।

अभिनय का मुख्य उद्देश्य भी जगदीशचन्द्र माथुर यही मानते हैं कि वह वातावरण और अनुभूति को साकार कर दे। वे लिखते हैं: 'संवेदनशील अभिनय के द्वारा ही उस वातावरण और अनुभूति का उत्थान हो सकता है जिसके बिना अच्छे-से-अच्छे नाटककार की कृति रंगमंच पर प्राणहीन जान पड़ेगी।'[1] स्पष्ट है कि नाटक का प्राण अभिनय नहीं, वह भावानुभूति है जिसके योग से सजग अभिनेता अभिनय को संवेदनशील बना देते हैं और जिसकी अनुपस्थिति में नाटक प्राणहीन हो जाता है।

नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर ने नाट्य के संदर्भ में संवेदना अथवा अनुभूति का महत्त्व मात्र सैद्धान्तिक धरातल पर ही स्वीकार नहीं किया, वरन् व्यावहारिक धरातल पर, अपने नाट्य-लेखन में भी उसे महत्त्व दिया है। दर्शकीय आस्वाद पर उनकी दृष्टि सदैव केन्द्रित रही और उसकी उपेक्षा उन्होंने कभी सहन नहीं की। इसी दृष्टि से 'कोणार्क' में उन्होंने उपक्रम एवं उपसंहार की योजना की है तथा उनके महत्त्व और उपयोगिता का निर्देश इन शब्दों में किया है: "उपक्रम और उपसंहार मेरे नये प्रयोग हैं जिनमें आप संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पाश्चात्य नाटकों के 'प्रो लौग' और 'एपि लौग' एवं कोरस की झलक पायेंगें। मुख्य नाटक की गति इतनी तीव्र और अविच्छिन्न है कि नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व दर्शकों की मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करना और समाप्त होते ही उनकी उद्वेलित और विशृंखल मानसिक दशा को संकलित करना मैंने जरूरी समझा। इसी तरह दर्शकों की संवेदन-शीलता को क्रमशः चढ़ाव (आरोह) और उतार (अवरोह) का मौका देना मेरा लक्ष्य है।"[2] 'कोणार्क' के 'परिशिष्ट-१' में अभिनेताओं के लिए उन्होंने जो संकेत दिये हैं वे इस तथ्य के प्रमाण हैं कि माथुर जी की दृष्टि नाट्य-प्रभाव और दर्शकीय आस्वाद पर केन्द्रित रही है।[3]

रस-सिद्धान्त के प्रति माथुर जी का आकर्षण इस तथ्य से भी व्यक्त है कि उन्होंने 'कोणार्क' के 'परिचय' में इसके अंगी का सविस्तर उल्लेख किया है।[4] यह एक अलग बात है कि कालान्तर में उन्होंने रस के स्थान पर परिस्थितियों के घात-प्रतिघात एवं मानसिक उद्वेलन का अधिक उल्लेख किया है।

सुप्रसिद्ध उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा ने कुछ नाटक भी लिखे हैं। गद्य-

---

१. भोर का तारा, परिशिष्ट, पृ० १४६
२. कोणार्क, परिशिष्ट : १, पृ० ७१
३ द्रष्टव्य—वही, पृ० ७१-७६
४. द्रष्टव्य—कोणार्क, परिचय, पृ० ८-९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

नाटकों की अपेक्षा उनकी ख्याति पद्यनाटकों पर अधिक आधारित है। अपने नाटकों में वे रस-परिपाक के पक्षपाती हैं। इस संदर्भ में उनकी यह स्वीकारोक्ति द्रष्टव्य है : 'महाकाल दर्शन का एक ऐसा रूपक है जो सर्वथा मौलिक है और इसलिए पाठक के लिए क्लिष्ट हो सकता है। पर यह काव्य है और कविता होने के नाते इस में रस का परिपाक है जो इसके सुगम होने में सहायक होगा, कम-से-कम मैं यह आशा करता हूँ।'[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि जब वर्मा जी अपने दार्शनिक नाटक 'महाकाल' में रस-परिपाक का लोभ-संवरण नहीं कर सके हैं, तब अन्य नाटकों की रसहीनता का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

स्वातन्त्र्योत्तर युग के सर्वाधिक चर्चित नाटककार मोहन राकेश ने यद्यपि रस का प्रत्यक्ष समर्थन नहीं किया, तथापि नाटक के सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण हमें रस-विरोधी नहीं लगता। नाट्य-लेखन के सन्दर्भ में मोहन राकेश ने द्वन्द्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। डॉ० कार्लो कपोला को एक भेंट में उन्होंने बताया : 'एक और चीज जो अनिश्चितता के साथ जुड़ी हुई है, वह है द्वन्द्व। हो सकता है कि यह मेरा व्यक्ति-गत अनुभव ही हो या फिर मेरे अपने ही मन की अभिव्यक्ति ही हो, लेकिन मैं यह ज़रूर महसूस करता हूँ कि हम में से बहुत-से अनिश्चितता और द्वन्द्व की स्थिति में जी रहे हैं जोकि अपनी सृजनात्मक अभिव्यक्ति में नाटक-नाट्य लेखन का रूप लेगा।'[2] अन्य अनेक स्थलों पर भी आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में उन्होंने 'नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व'[3] 'द्विविधात्मक स्थिति' अथवा 'विभाजिक मानसिकता'[4] का उल्लेख किया है। उनके इन कथनों के आधार पर यह माना जा सकता है कि राकेश की दृष्टि में द्वन्द्व ही नाटक की आत्मा है। उनके किसी ग्रन्थ अथवा लेख का सन्दर्भोलेख किये बिना, डॉ० निर्मला हेमन्त ने, उनके नाम से एक ऐसा उद्धरण दिया भी है : 'मेरी दृष्टि में नाटक की आत्मा उसमें सन्निहित द्वन्द्व है। × × × आज की परिस्थिति में व्यक्ति और परिवेश के बीच का द्वन्द्व, उसको हम आज के नाटक का मूल स्वर कह सकते हैं।'[5] अन्तःसंघर्ष और रस परस्पर विरोधी धरातलों पर अवस्थित नहीं हैं, इसका विवेचन हम इस अध्याय के अन्त में करेंगे।

नाटकीय रंगमंच से जो निष्पत्ति सामने आती है उसका प्रमुख श्रेय मोहन राकेश नाटककार को देते हैं—सोवियत नाटककार आर्बुजोफ़ के साथ हुई मोहन राकेश की बातचीत से यह स्पष्ट है। अन्ततः राकेश के इस मत से आर्बुजोफ़ ने अपनी सहमति इन शब्दों में की है : 'वैसे मैं आपकी आधार-दृष्टि से असहमत नहीं हूँ कि नाटकीय रंगमंच के एक निष्पत्ति तक पहुँचने में पहली भूमिका नाटककार की है। मूल भाव

---

१. मेरे नाटक, पृ० २५४
२. साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि, पृ० १७१-७२
३. वही, पृ० ३२
४. वही, पृ० १६५
५. आधुनिक हिन्दी नाटककारों के नाट्य-सिद्धान्त, पृ० ३७३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

और ढाँचा उसी के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यह भी सच है कि बहुत बार अभिनेता तथा निर्देशक उसमें से ऐसे सूक्ष्म अर्थ ढूंढ निकालते हैं, जिन्हें सचेत रूप से नाटककार स्वयं पहले से नहीं जानता। परन्तु नाटककार द्वारा अनजाने होकर भी ये सूक्ष्म अर्थ उस रचना में ही अंतर्हित होते हैं।'[1] निश्चय ही, इस नाटकीय निष्पत्ति और भारतीय आचार्यों द्वारा मान्य रसास्वाद में पर्याप्त साम्य है।

रेडियो नाटक के संदर्भ में, मोहन राकेश ने विभावानुभावादि की ओर संकेत ही नहीं किया, वरन् उसे भावाभिव्यक्ति का एक समर्थ माध्यम भी माना।[2] उनका 'रेडियो नाटक' लेख रस के प्रति उनके अविरोधी दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रमाण है। इसके अतिरिक्त 'हिन्दी रंगमंच' शीर्षक निबंध में उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि कभी-कभी 'प्रॉम्प्टिंग' का दुष्परिणाम रस-भंग के रूप में सामने आता है जो कदापि काम्य नहीं है। वे लिखते हैं: 'दर्शक के कान में पड़ती हुई ये दोहरी आवाजें रस-भंग ही नहीं करतीं, सारे वातावरण को उसके लिए अयथार्थ बना देती हैं।'[3] रस-भंग का यह स्वीकार इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि मोहन राकेश नाटक में रस की सत्ता मानते हैं।

मोहन राकेश के समान विष्णु प्रभाकर भी नाट्य में संघर्ष की अनिवार्य सत्ता मानते हैं: 'नाटक है भी क्या? मानव के बाह्य तथा आन्तरिक संघर्ष की कहानी है, जो मंच पर से प्रस्तुत की जाती है।'[4] इसके साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि 'नाट्यकला ही एक ऐसी कला है जिसमें भावों का प्रगटीकरण अन्य सभी कलाओं से अधिक सर्वांगरूप में हो सकता है।'[5] रस अथवा भाव का यही विधान किसी भी नाटक के लिए अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में रचना निष्प्राण हो जाती है। मंच के सभी उपकरणों, अभिनेताओं के अभिनय-कौशल एवं नाटक में गीत-संगीत की योजना का प्रमुख उद्देश्य यही होता है कि सामाजिक उससे रसास्वादन कर सकें। 'नव-प्रभात' के आमुख में, विष्णु प्रभाकर लिखते हैं, 'भाई चिरंजीत ने कृपापूर्वक जो गीत लिख दिये हैं, उनके बिना तो नाटक का रस खंडित हो जाता।'[6] उनके इस कथन से उपर्युक्त मत की पुष्टि तो होती ही है, यह भी सिद्ध होता है कि वे नाट्य में रसनीयता अनिवार्य मानते हैं।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल रंगधर्मी नाटककार हैं। उन्होंने नाटक ही नहीं लिखे, नाटक और रंगमंच पर पुस्तकें भी लिखी हैं। यद्यपि स्वतंत्र रूप से उन्होंने नाट्य में रस

१. साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि, पृ० ९५-९६
२. साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि, पृ० १०६, १०८, १०९
३. वही, पृ० १०२
४. वही, पृ० ११
५. वही, पृ० १२
६. नव प्रभात, आमुख, पृ० १६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की स्थिति पर कोई लेख नहीं लिखा है, तथापि यत्र-तत्र विकीर्ण उनके विचारों से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि वे नाट्य की श्रेष्ठता 'भावानुभूति' में स्वीकार करते हैं। इस संदर्भ में उनके निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

(क) ...जबकि सत्य यह है कि रंगकला न मात्र प्रदर्शन में है, न केवल यथार्थ-दर्शन में, बल्कि इसकी श्रेष्ठता है भावानुभूति में, कल्पना और विचार-दर्शन के समन्वित सत्य, अनुरूप रंगमिश्रण तथा रेखांकन की स्वर-मैत्री में, समन्वय में। तभी उसमें से प्रभाव की वह एकता उजागर होती है, जो सीधे हमारे हृदय, मन, प्राण और विवेक को स्पर्श करती है।[1]

(ख) हमें वहाँ से अपनी दृष्टि लेनी है जहाँ हमारे अपने रंगमंच की एकांत शक्ति छिपी है, जहाँ हमारी अपनी अतिरिक्त शक्ति है। और अपनी इस दृष्टि में पश्चिम के आधुनिक रंगमंच के इतिहास का वह कलात्मक अनुभव हमें कभी नहीं भूलना होगा कि जब पश्चिम में वह यथार्थवादी रंगमंच भलीभूत नहीं हुआ, फिर तो भारतवर्ष भारतवर्ष है, जहाँ की प्राचीन नाट्य परम्परा काव्यानन्द 'रस' में धर्मनिष्ठ है।[2]

स्पष्ट है कि भारत में वह नाट्य-सृजन विशेष सार्थक नहीं हो सकता जो रस अथवा भावाश्रयी नहीं है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास आदि की नाट्य रचनाओं को इसीलिए विशेष सार्थक नहीं माना, क्योंकि 'इन सभी नाटककारों की रचनाएँ पठन-पाठन, ज्ञान, बुद्धि और तर्क पर खड़ी हैं, अनुभूति और व्यंजना पर नहीं।'[3]

नाट्य-सृजन के लिए डॉ० लाल ने 'जिज्ञासपूर्ण घटना' और 'संवेद्यस्थिति' की अनिवार्यता स्वीकार की है।[4] यह संवेद्यस्थिति निःसंदेह रसात्मक स्थिति से अभिन्न है। जहाँ तक संकलन-त्रय का प्रश्न है, उसमें से नाटक के लिए वे 'एकान्त प्रभाव की एकता' को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं, और, 'इस एकता का यह अर्थ नहीं है कि समूचे ड्रामा में केवल एक ही भाव और एक सा ही सब आदि से अन्त तक हो। बल्कि महत्त्वपूर्ण ड्रामों में अनेक भाव-विचारों के बीच से इसका एक आधारभूत भाव, इसकी एक अपनी दृष्टि उजागर होती है।'[5] आधुनिक एकांकी के संदर्भ में डॉ० नगेन्द्र ने भी प्रभावान्विति को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है।[6] वस्तुतः डॉ० लाल का उपर्युक्त

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, पृ० १६
२. वही, पृ० २२
३. वही, पृ० ५४
४. रंगमंच और नाटक की भूमिका, पृ० १०१
५. वही, पृ० १०३-१०४
६. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ९२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

दृष्टिकोण नाट्य में रस-विधान के विषय में प्राचीन भारतीय आचार्यों की अंग और अंगी रस-योजना के निकट बैठता है। जिसे वे 'एकांत प्रभाव की एकता' या 'एक आधारभूत भाव' के नाम से अभिहित करते हैं, वह शास्त्र की शब्दावली में अंगी रस है और जिसे 'अनेक भाव-विचार' मानते हैं वही अंग रस है। इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० लाल का यह चिन्तन शास्त्रानुमोदित है, रस-सिद्धान्त के अनुकूल है।

उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त इस काल-खण्ड के जिन अन्य नाट्य-लेखकों ने रसके विषय में अपना दृष्टिकोण रखा है, उनमें उल्लेखनीय हैं ललित सहगल, सुरेन्द्र वर्मा और बृजमोहन शाह। ललित सहगल की रस-दृष्टि 'हत्या एक आकार की' नाटक के एक संलाप में व्यक्त हुई है जिसमें अधेड़ व्यक्ति यह कहता है कि 'इसमें नाटक का-सा आनन्द है।'[1] इस संलाप से यह स्पष्ट है कि ललित सहगल को नाटक की रसनीयता में विश्वास है।

नाटककार सुरेन्द्र वर्मा ने रस-विषयक अपने दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति 'आठवाँ सर्ग' में कालिदास के मुँह से कराई है। नाटक में पात्र बोलते हैं, नाटककार नहीं। नाटककार तो उन्हीं के माध्यम से अपनी बात कह सकता है। यहाँ सुरेन्द्र वर्मा ने नाटक के केन्द्रीय पात्र महाकवि कालिदास के माध्यम से, परोक्ष रूप में, अपने रस-विषयक विचारों की अभिव्यक्ति की है। कालिदास के 'कुमारसंभव' के आठवें सर्ग की श्लीलता-अश्लीलता का निर्णय करने के लिए जो समिति गठित की गई है, उसके अधिकतर सदस्य वे लोग हैं जिन्हें साहित्य से कुछ लेना-देना नही है, जिन्हें साहित्यिक समझ है ही नहीं। ऐसे सदस्यों पर व्यंग्य करते हुए कालिदास सम्राट् चन्द्रगुप्त से कहते हैं—"जिन्हें यह तक मालूम नहीं कि रस कौन-से खेत की मूली है, आश्रय किसे कहते हैं और आलम्बन क्या होता है, वे मेरे काव्य पर मनमाने आरोपों की वर्षा करें, दिन-दहाड़े बिना किसी अधिकार के साहित्योद्यान में घुस आयें और वर्षों के श्रम के बाद फूले-फले गुल्मों को उन्मत्त साँडों की तरह मसलें-कुचलें, रौंदें ?"[2] कालिदास के इस कथन से स्पष्ट है कि सुरेन्द्र वर्मा काव्य-नाटक में रस का अस्तित्व अनिवार्यतः स्वीकार करते हैं। साहित्य में विभावादिकों की योजना को वे अनिवार्य मानते हैं। कालिदास के उपर्युक्त कथन में उन समीक्षकों की भी खिल्ली उड़ाई गई है कि जो रस-सिद्धान्त के ज्ञान के बिना ही साहित्यिक कृतियों की मनमानी आलोचना करने लगते हैं।

सुरेन्द्र वर्मा मूलतः शृंगार रस के नाटककार हैं, तदनुरूप उन्होंने साहित्य में—काव्य, नाटक आदि में शृंगार के महत्त्व को शास्त्रीय और दार्शनिक धरातलों पर स्वीकार किया है। शृंगार का रसराजत्व भी उन्हें मान्य है। वे कालिदास के मुँह से कहलवाते हैं : '...महादेव देवाधिदेव ही नहीं, रसाधिराज भी हैं। इस काव्य में उनके दोनों ही रूपों को प्रतिष्ठित किया गया है। दूसरे रूप को इसलिए, क्योंकि संसार में

१. हत्या एक आकार की, पृ० १७
२. आठवाँ सर्ग, पृ० ५३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भावना की गहराई और सघनता सबसे अधिक स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में ही मानी गयी है। काव्य के शृंगार को इसलिए तो रसराज कहते हैं, लेकिन फिर भी अगर किसी को इस प्रसंग पर आपत्ति हो तो उसे पुरुष और प्रकृति के मिलन का प्रतीक माना जा सकता है।'[1]

सुरेन्द्र वर्मा 'ने आठवां सर्ग' में अश्लीलता और रस-विषयक जो विवाद उठाया है वह समकालीन काव्य-कला के लिए भी प्रासंगिक है। आज भी, अधिकतर समीक्षक, जो स्वयं रसशास्त्रीय ज्ञान से शून्य हैं, अपनी नासमझी और अल्पज्ञता को छिपाने के लिए रस के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। नाटककार ने ऐसे समीक्षकों पर व्यंग्य किया है, क्योंकि रस के बिना साहित्य (काव्य-नाटक आदि) के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

रसानुभूति और साधारणीकरण की महत्त्व-स्वीकृति सुरेन्द्र वर्मा ने सम्राट् चन्द्रगुप्त के मुँह से भी कराई है। चन्द्रगुप्त कालिदास से पूछते हैं: '…क्या तुम अभिव्यक्ति मात्र से सन्तुष्ट हो जाते हो ? तुम्हारा रचनाकार और कुछ नहीं माँगता ? तुम यह नहीं चाहते कि तुम्हारी कृति दूसरों के पास पहुँचे ? उनमें अनुभूति का उद्रेक करे, उन्हें छुए और वही भावोपलब्धि कराए, जो तुमने की है ?'[2] स्पष्ट है कि सुरेन्द्र वर्मा रस-सिद्धान्त के सबल समर्थक नाटककार हैं।

'शह, ये मात' की भूमिका 'रंगप्रक्रिया से' में बृजमोहन शाह नाटक में रस की सत्ता और उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। दर्शकों की चेतना पर नाट्य-प्रेक्षण का समग्र प्रभाव निश्चय ही रसात्मक होता है, और इसी प्रभाव के कारण—रसानुभूति के कारण वे ऐसी तन्मयता और तल्लीनता का अनुभव करते हैं कि प्रेक्षा-गृह को तब तक छोड़ नहीं पाते, जब तक कि नाटक समाप्त नहीं हो जाता। सामाजिकों के मन पर 'शह, ये मात' के प्रेक्षण से पड़े प्रभाव का उल्लेख बृजमोहन शाह इन शब्दों में करते हैं: 'एक सन्तोष हुआ मुझे सरल प्रेक्षकों और कटु समीक्षकों को नाटक के करुण-हास्य की उग्र-उत्तेजना को अनुभव करते देखकर।'[3] करुण-हास्य की यह उग्र-उत्तेजना कार्पण्य की रसानुभूति से अभिन्न है। आज का व्यक्ति जिस विसंगत जीवन को जीने के लिए अभिशप्त है, उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति 'कार्पण्य रस' में ही हो सकती है। जीवन यथार्थ का चित्रण करने वाला नाटक इस युग-सत्य को नकार कर नहीं चल सकता। बृजमोहन शाह के शब्दों में, 'आज कौन नहीं जी रहा है एक विचित्र अनिश्चित बेतुके जीवन के त्रास-हास को ? उसकी ऊहापोह के उग्र सन्तोष-असन्तोष को ? जी सभी रहे हैं—रीती-बीती इच्छा—असफलताओं के संत्रास में, 'स्व' को समझने-समझाने के तनावपूर्ण वर्तमान में, एक करुण-हास के विसंगत परिवेश में। यह जीना व्यक्तिगत हो तो, दाम्पत्यगत हो तो, वर्गगत हो तो, अवस्थागत हो तो, समाजगत हो तो।'[4] जो जीवन

---

१. आठवां सर्ग, पृ० ५४
२. वही, पृ० ५७
३-४. शह, ये मात (रंग प्रक्रिया से), पृ० ७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

आज जिया जा रहा है, उसी की अनुभूति करा देने में ही नाट्य-कला की इतिकर्त्तव्यता है, सार्थकता है। अपने रंगानुभव से बृजमोहन शाह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं : अब तक की रंगप्रक्रिया में मुझे अनुभव हुआ है कि सही नाटक वही है जो रंगकर्मियों और प्रेक्षकों को जीवन में व्याप्त उस विचित्र अनिश्चितता एवं अराजकता के उग्र सन्तोष-असन्तोष का अनुभव करा दे, जो उनमें एक एहसास, एक तनाव, एक त्रास, एक ह्रास, एक तिलमिलाहट भरकर उन्हें बेहतर सोचने-करने को विवश कर दे।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह रसानुभूति का, आधुनिक शब्दावली में, स्वीकार है। नाट्य-कृति के साधारणीकृत और रसनीय होने में ही शाह उसकी सार्थकता मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल-खण्ड के प्रतिनिधि नाटककारों ने भी, किसी-न-किसी रूप में, नाट्य के सन्दर्भ में रस के महत्त्व को स्वीकार किया ही है, किन्तु इस विषय का समापन करने के पूर्व दो प्रश्नों पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है—१. क्या अन्तर्द्वन्द्व का रस से कोई सम्बन्ध है? तथा-२. व्यंग्य की रस-परिधि में क्या स्थिति है? यहाँ हम इन प्रश्नों पर संक्षेप में विचार करते हैं।

अन्तःसंघर्ष और रस

जैसा कि हम लिख चुके हैं इस कालावधि के अनेक नाटककारों—डॉ० रामकुमार वर्मा, मोहन राकेश, विष्णु प्रभाकर आदि ने नाट्य में संघर्ष की अनिवार्यता स्वीकार की है। पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप आधुनिक नाटककारों का बल संघर्ष पर है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। प्रसाद के नाटकों के सन्दर्भ में भी यह प्रश्न उठाया गया था, पर उनके नाटकों को न तो अरसात्मक ही माना गया, न उनके साहित्य के अध्येताओं ने इस कारण उनकी रस-दृष्टि का खण्डन ही किया। द्वन्द्व का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रसाद-साहित्य के अध्येता डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने लिखा है कि 'जैसे सामाजिक जीवन में द्वन्द्व—संघर्ष, विरोध, युद्ध इत्यादि में प्रकट होता है उसी प्रकार हृदय-क्षेत्र में भी दो विरोधमयी प्रवृत्तियों के कारण द्वन्द्व चलता है। सत्-असत्, पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय, राग-विराग इत्यादि से युक्त होकर जब दो भाव एक साथ उत्पन्न होते हैं तो मनुष्य विचार के आधार पर नहीं निर्णय कर पाता कि किस पक्ष को स्वीकार करे अथवा किसका त्याग करे। ऐसी स्थिति में उसके भीतर 'हाँ-नहीं' में खींच-तान चलती रहती है। यही अन्तर्द्वन्द्व कहलाता है। यह स्थिति कहीं तो चरित्र की दुर्बलता के कारण उत्पन्न होती है, कहीं परिस्थिति की गहनता से। कुछ भी हो, है यह विचार-दौर्बल्य ही। जिस मनुष्य की निर्णय-शक्ति पूर्ण प्रबुद्ध नहीं होती उसी पर इसका विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है।'[2]

द्वन्द्व के इस रूप—मानव-हृदय में सत्-असत्, पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय के प्रति अन्तःसंघर्ष या परिस्थितिजन्य घात-प्रतिघात—का प्राचीन भारतीय नाट्य-साहित्य में

---

१. शाह, ये मात (रंग प्रक्रिया से), पृ० ८

२. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ५७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अभाव नहीं है। 'मृच्छकटिक', 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'उत्तर रामचरित' का विश्लेषण करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दिखाया है कि उनमें भी परिस्थितियों का घात-प्रतिघात एवं मानसिक अन्तःसंघर्ष है।[1] यह एक अलग बात है कि भारतीय दृष्टि संघर्ष का पर्यवसान आनन्दोपलब्धि में, रस-सिद्धि में मानती है। प्रसादोत्तर कालीन नाटकों में संघर्ष की स्थितियों पर शोध-कार्य करने वाली डॉ० भूपेन्द्र कलसी ने भी यह स्वीकार किया है कि भारतीय नाट्यशास्त्र में भी संघर्ष की सत्ता का स्वीकार है। उनके शब्दों में, 'नाटक में व्याप्त संघर्ष साधारणतया किसी एक मुख्य पात्र द्वारा वहन किया जाता है, और शेष सारी व्यवस्था उसकी सहायक बनकर आती है। यह प्रमुख पात्र भारतीय दृष्टि में, अपने सामने एक उद्देश्य रखकर मार्ग की समस्त बाधाओं से द्वन्द्व करता उनका अतिक्रमण कर विजय पाता हुआ उद्देश्य-प्राप्ति कर लेता है।'[2] डॉ० सुरेन्द्र नाथ शास्त्री के मतानुसार मुख सन्धि के आठवें अंग 'विधान' में भावों का अन्तःसंघर्ष समाहित है।[3]

रस के लिए अद्वन्द्व स्थिति की कल्पना बहुत सार्थक नहीं लगती क्योंकि रस की प्रक्रिया में द्वन्द्व की स्थिति स्वीकार्य है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में 'द्वन्द्व प्रक्रिया में ही हो सकता है, परिणति में नहीं।'[4] डॉ० सिद्धनाथ कुमार ने भी रस के लिए अद्वन्द्व स्थिति की कल्पना को साधार नहीं माना है।[5] हमारे मत में मति, वितर्क, विबोध आदि संचारी भावों में द्वन्द्व अथवा अन्तःसंघर्ष का समाहार हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि किसी नाट्य-कृति की परिणति भारतीय दृष्टि के प्रतिकूल पाश्चात्य नाट्य-शैली में हो तो उस संघर्ष का समाहार भावसंधि या भावशबलता में हो जायेगा।

व्यंग्य और रस

स्वातन्त्र्योत्तर अनेक नाटककारों ने रस के स्थान पर व्यंग्य का समर्थन किया है। पिछले कुछ वर्षों से नाट्य-लेखन में व्यंग्य का प्रचुर प्रयोग हुआ भी है। विचारणीय यह है कि रसचक्र में व्यंग्य की क्या स्थिति है? परम्परित दृष्टि से व्यंग्य का हास्यरस में समाहार हो जाता है। स्वयं डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसी मत का समर्थन किया है, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। डॉ० भूपेन्द्र कलसी भी इस मत से सहमत दिखाई देती हैं[6] किन्तु यह आवश्यक नहीं कि व्यंग्य का उद्देश्य सदैव हास्योद्रेक ही हो। ऐसी स्थिति में हास्य से ही नहीं, कुछ अन्य रस-भावों से भी

---

१. द्रष्टव्य — साहित्य-सहचर, पृ० ११६-११८
२ प्रसादोत्तर कालीन नाटक, पृ० ६३
३. The Laws and Practice of Sanskrit Drama, P. 101
४. रस-सिद्धान्त, पृ० ३४४
५. प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन, पृ० ६८
६. प्रसादोत्तर कालीन नाटक, पृ० ५०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उसका सम्बन्ध है। व्यंग्य की रस-स्थिति पर विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'यथार्थ चित्रण में भी रस होता है और व्यंग्य का रस से क्या विरोध ? उसमें तो करुण, हास्य, अमर्ष आदि भावों की सत्ता निश्चित रूप से रहती है, जो मूलतः मानवीय संवेदना पर आश्रित होते हैं।'[1] 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में व्यंग्य' पर शोध करने वाले डॉ० शेरजंग गर्ग ने लिखा है कि 'व्यंग्य द्वारा चार रसों की निष्पत्ति संभव है, यथा, करुण, रौद्र, बीभत्स एवं हास्य।'[2] इसके अतिरिक्त उनका यह भी मत है कि 'कभी-कभी रस-निष्पत्ति की दृष्टि से व्यंग्य में इसका दोहरापन आ जाता है। रस की दृष्टि से व्यंग्य को परखने पर कभी-कभी खट्टे, मीठे, चरपरे स्वाद का अनुभव होता है।'[3] अनुभवों का यह वैविध्य शास्त्रीय दृष्टि से भाव-शबलता है, अतः हमारी दृष्टि में,व्यंग्य में हास्य, करुणा, अमर्ष, जुगुप्सा, देशानुराग, रति, मति, वितर्क, विबोध आदि की शबलता सम्भव है। यों, पृथक्-पृथक् रसों की सत्ता की सम्भावना को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष

इस प्रकार, प्रसादोत्तर नाटककारों की रस-विषयक अवधारणाओं का विवेचन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वतन्त्रता पूर्ववर्ती अधिसंख्य नाटककारों ने रस-सिद्धान्त के समर्थन में कोई संकोच नहीं दिखाया और खुलकर, नाट्य के सन्दर्भ में, इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। इसके विपरीत स्वातन्त्र्योत्तर नाटककारों में इस विषय में कुछ संकोच दिखायी देता है। यों, इस काल-खण्ड के प्रतिनिधि नाटककारों ने भी रस के आस्वाद-परक अर्थ का समर्थन अवश्य किया हैं। कुछ नाट्य-लेखकों ने द्वन्द्व या व्यंग्य पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया है, पर जैसा कि हम दिखा चुके हैं, रस का द्वन्द्व या व्यंग्य से कोई विरोध नहीं है। वस्तु-स्थिति यह है कि ये दोनों अवधारणाएँ भी रस-परिधि के भीतर ही हैं। कतिपय अन्य नाटककारों ने अनुभव, भावानुभव, अनुभूति, संवेग, संवेदना आदि शब्दों का प्रयोग भी किया है पर ये सारी अवधारणाएं भी, निश्चित रूप से, किसी-न-किसी बिन्दु पर रस की परिधि में ही समाहित हो जाती हैं। रस का केन्द्रीय बिन्दु भाव या उससे भी सूक्ष्म भाव-गन्ध है जिससे गुजरने वाली प्रत्येक रेखा रस-सिद्धान्त की परिधि का संस्पर्श करती है। अन्ततः रस ओर संकेत कर देना भी अनुचित न होगा कि इस काल-खण्ड के कुछ नाटककार रस के विषय में मौन हैं। उनके इस मौन को रस के प्रति उनका स्वीकार समझा जाए या उपेक्षा, कहना कठिन है।

---

२. रस-सिद्धान्त, पृ० २४६

३. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में व्यंग्य, पृ० ५४

४, वही, पृ० ५५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

३ | प्रसादोत्तर स्वातन्त्र्य-पूर्व हिन्दी नाटकों में रस-विधान

काल-विभाजन का औचित्य

प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटक का प्रारंभ कब से माना जाए— इस विषय पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। यों, हिन्दी-नाट्यालोचकों और अनुसंधित्सुओं ने इस पर न तो जम कर विचार ही किया है और न इसके पक्ष-विपक्ष में कोई ठोस कारण या तर्क ही दिये हैं। अधिकतर विद्वानों ने इसे स्वतः स्पष्ट मानकर कोष्ठक में सन् का निर्देश कर दिया है और आगे बढ़ गये हैं, फलतः प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटक की कालावधि सुनिश्चित नहीं है। डॉ० सोमनाथ गुप्त ने प्रसादोत्तर नाटक-साहित्य का विकास सन् १९३३ से सन् १९४२ तक स्वीकार कर[1] इसकी ऐतिहासिक और समस्या-प्रधान दो मुख्य धाराएँ मानी हैं।[2] प्रसादोत्तर काल को 'आधुनिक काल' का अभिधान देकर डॉ० वेदपाल खन्ना 'विमल' ने इसकी सीमा सन् १९३३ से १९४८ तक मानी है, किन्तु इसके लिए उन्होंने कोई तर्क नहीं दिया है।[3] डॉ० गिरीश रस्तोगी भी प्रसादोत्तर नाटक की प्रारंभिक सीमा के विषय में इसी मत की समर्थिका हैं। हिन्दी नाटकों के नवयुग का सूत्रपात सन् १९३३ से स्वीकार कर इसी को उन्होंने 'प्रसादोत्तरकालीन हिन्दी नाटक' का अभिधान भी दिया है।[4] प्रो० जयनाथ 'नलिन' ने सन्-संवत् का उल्लेख न कर इतने से ही काम चला लिया है—'प्रसाद-युग के बाद हिन्दी-नाटकों का नवयुग आरम्भ होता है। इसे प्रसादोत्तरकाल कहा जाता है।'[5] प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटक का प्रस्थान सन् १९३३ ई० से मानने के दो मूल कारण हो सकते हैं : एक तो यह कि प्रसाद की अन्तिम नाट्य-कृति – 'ध्रुवस्वामिनी' का रचना काल यही है और दूसरा यह कि इस समय तक लक्ष्मीनारायण मिश्र अपने कुछ नाटकों द्वारा प्रसाद की नाट्य-परम्परा से

१-२. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० २२८, २३०

३. हिन्दी-नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० २०४

४. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और विवेचन, पृ० ८९-९०

५. हिन्दी नाटककार, पृ० २८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भिन्न समस्या-नाटकों की परम्परा का सूत्रपात कर चुके थे। ये दोनों कारण भी विवादातीत नहीं हैं, अतः इनकी ग्राह्यता-अग्राह्यता पर हम आगे विचार करेंगे।

उपर्युक्त नाट्यालोचकों के विपरीत कतिपय नाट्य-समीक्षक प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटक की प्रारंभिक सीमा को और पीछे ले जाने के पक्ष में हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० भूपेन्द्र कलसी का यह मत द्रष्टव्य है—'प्रसादजी ने जिस आदर्शवादी और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को नाटकों में अपनाया था, उसका विरोध उन्हीं के समय के नाटककारों ने यथार्थ को प्रधानता देकर, सामाजिक कथानकों के आधार पर किया, जो कि लक्ष्मी-नारायण मिश्र के नाटकों से अलग धारा का निर्माण करता है। मिश्रजी के प्रारंभिक नाटक यद्यपि १९२९-३३ के बीच प्रकाश में आ गये थे पर अपनी अभिव्यक्ति तथा अभिव्यंजना में इस युग के नाटकों से मेल नहीं खाते, अतः उनका विवेचन प्रसादोत्तर काल में किया जाना अनुचित न होगा।'[१] कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ० कलसी प्रसादोत्तर नाटक का प्रारम्भ सन् १९२९ से मानने के पक्ष में हैं।

सन् १९३३ के बजाय प्रसादोत्तर नाटक का प्रारंभ कुछ विद्वान् १९३४ ई० से भी स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। डॉ० भगवतीप्रसाद शुक्ल ने प्रसादयुगीन हिन्दी-नाटक की सीमा सन् १९१० से सन् १९३३ तक मानी है, जिससे यह ध्वनित होता है कि वे प्रसादोत्तर नाटक का प्रारंभ सन् १९३४ से मानने के पक्ष में हैं। प्रसादयुग की जो कालावधि उन्होंने स्वीकार की है, उसके पीछे उनका तर्क है कि 'प्रसाद ने सन् १९१० से नाटक-रचना का क्रम आरम्भ किया और सन् १९३३ तक अनवरत रूप से लिखते रहे।'[२] प्रसादकालीन नाटकों की अन्तिम सीमा सन् १९३४ तक मानकर डॉ० विभुराम मिश्र ने उसके बाद के नाटकों की प्रारंभिक सीमा सन् १९३५ से स्वीकार की है।[३] डॉ० श्याम शर्मा भी इसी मत के समर्थक हैं।[४] कुछ शोध-कर्त्ताओं ने प्रसादोत्तर युग का प्रारम्भ सन् १९३७ से भी स्वीकार किया है[५] जो प्रसाद का निधन वर्ष है।

सन् के विषय में मतभेद होने पर भी प्रायः सभी नाट्यालोचकों ने प्रसाद के बाद के नाटकों को प्रसादोत्तर ही माना है, किन्तु डॉ० सत्येन्द्र तनेजा जैसे एक-आध आलोचक ने इस नामकरण पर प्रश्न-चिह्न लगाया है। इस सन्दर्भ में डॉ० तनेजा का मत है कि '१९३१ ई० या १९३३ ई० तक तो निर्विवाद रूप से प्रसाद-युग स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु परवर्ती नाटक साहित्य को प्रसादोत्तर-युग कहना युक्ति-संगत नहीं। वस्तुतः लक्ष्मीनारायण मिश्र ने नए युग का सूत्रपात किया और हिन्दी-नाटक को नई दिशा दी। नामकरण में ऐसा संकेत अवश्य होना चाहिए।'[६] अपने इस

---

१. प्रसादोत्तरकालीन नाटक, पृ० १३६
२. प्रसादयुगीन हिन्दी-नाटक, पृ० १२
३. राष्ट्रीयता और हिन्दी नाटक, पृ० १२२, १७०
४. आधुनिक हिन्दी नाट ो में नायक, विपय सूची, पृ० ९ एवं पृ० ५९
५. बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ० लाजपतराय गुप्त, पृ० १२९
६. हिन्दी नाटक : पुनर्मूल्यांकन, पृ० २१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कथन के बावजूद डॉ० तनेजा प्रसाद-परवर्ती नाट्य-साहित्य के लिए कोई ऐसा नाम नहीं सुझा पाए, जिसमें उक्त संकेत हो और जो सर्वमान्य हो सके। नाट्य-समीक्षक प्रसाद-परवर्ती नाटक-साहित्य को प्रसादोत्तर नाटक के नाम से ही जानते-मानते आये हैं और यही युक्तियुक्त भी है।

नाट्यालोचकों ने अब तक जो मत व्यक्त किये हैं, उनके आधार पर प्रसादोत्तर नाटक का प्रारंभ सन् १६२६, सन् १६३०-३१, सन् १६३३, सन् १६३४, सन् १६३५ अथवा सन् १६३७ से स्वीकार किया जा सकता है। जो आलोचक प्रसादोत्तर नाटक की प्रारंभिक सीमा सन् १६३३ तक स्वीकार करते हैं, वे जाने-अनजाने इस मान्यता के समर्थक हैं कि इस समय तक लक्ष्मीनारायण मिश्र एक नयी नाट्य-धारा का प्रवर्तन कर चुके थे, किन्तु अब नाट्यालोचक यह स्वीकार करने लगे हैं कि—'वास्तव में छायावादी रोमांटिक दृष्टिकोण को ठुकराकर बुद्धिवाद के ध्वजाधारी होने के बावजूद, मिश्रजी मूलतः रोमेंटिक ही बने रहते हैं, बल्कि रोमेंटिक दृष्टिकोण के उच्छिष्ट से पीड़ित हैं और इस खींचतान में न रोमेंटिक दृष्टि की भावसघनता उनके हाथ लगती है, न यथार्थवादी दृष्टि की वस्तुनिष्ठ प्रखरता'[1] ही। वस्तुतः लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में इब्सन और बर्नार्ड शा जैसी आन्तरिक यथार्थवादिता, कलात्मकता और रंग-चेतना नहीं है। उनमें जो बुद्धिवादिता और यथार्थपरकता दिखायी देती है, वह तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों की उपज न होकर कृत्रिम, आरोपित और सतही है। उनके नाटकों की संरचना तो यथार्थवादी रंग-शिल्प के विपरीत है ही, उनकी भाषा भी बोझिल, कृत्रिम, अगत्यात्मक और अनाटकीय है। उनके नाटकों के सम्बन्ध में नेमिचन्द्र जैन का निष्कर्ष है कि 'वास्तव में मिश्रजी में नाटकीय कल्पना का अभाव है। फलस्वरूप उनके नाटकों की रंगमंचीय पुनर्सृष्टि के लिए अधिक गुंजाइश नहीं। इसी कारण उन्होंने शायद ही कभी किसी नाटक-मंडली को आकर्षित किया हो और इसी कारण रचना, शैली या भाषा किसी भी दृष्टि से समकालीन अथवा परवर्ती नाट्य-लेखन या रंगमंच पर उनका कोई प्रभाव न पड़ सका।'[2] निःसन्देह, मिश्रजी परवर्ती नाटककारों पर कोई गहरा प्रभाव नहीं छोड़ते, अतः प्रसादोत्तर हिन्दी नाट्य-साहित्य का प्रस्थान-बिन्दु उनके नाट्य-लेखन-काल से मानना उचित प्रतीत नहीं होता। उनकी तुलना में प्रसाद का प्रभाव परवर्ती नाटककारों पर कहीं अधिक गहरा है, यद्यपि यह युग प्रसाद के प्रभाव से मुक्ति के प्रयास का ही युग है। वस्तुतः 'जहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी की नाट्यकला को छोड़ा था, वहाँ से जयशंकर प्रसाद ने शुरू किया और जहाँ जयशंकर प्रसाद ने उसे छोड़ा, वहाँ से जगदीशचन्द्र माथुर और मोहन राकेश उसे लेकर आगे चले।'[3] निश्चय ही, प्रसाद की अन्तिम नाट्य-कृति—

१. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य (नेमिचन्द्र जैन का 'नाटक' शीर्षक लेख), सम्पादक—डॉ० महेन्द्र भटनागर, पृ० ६६

२. वही, पृ० ६६-६७

३. प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन, डॉ० सिद्धनाथ कुमार, पृ० २११-१२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

'ध्रुवस्वामिनी' अपनी स्वच्छन्दतावादी प्रकृति के बावजूद एक सीमा तक समसामयिकता, आधुनिकता और यथार्थवादिता से भी जुड़ गयी है। आकार की लघुता और रंग-मंचीयता की दृष्टि से भी प्रसाद की यह रचना आधुनिकता-बोध-सम्पन्न समसामयिक ऐतिहासिक नाटकों के निकट बैठती है, अतः डॉ० सिद्धनाथ कुमार का यह अनुमान असंगत प्रतीत नहीं होता कि यदि 'ध्रुवस्वामिनी' के बाद भी प्रसाद आगे चलते तो उनकी वही दिशा होती, जो उनकी परम्परा में आने वाले बाद के नाटककारों की हुई।"[1]

यह भी कम आश्चर्यजनक नहीं कि प्रसाद की नाट्य-धारा के विरोध और प्रतिक्रिया-स्वरूप नाट्य-लेखन की ओर उन्मुख होने वाले लक्ष्मीनारायण मिश्र स्वयं उनसे काफ़ी दूर तक प्रभावित हैं और आज यह स्वीकार कर रहे हैं कि 'इस नाटक (मुक्ति का रहस्य) की भूमिका 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ' में, उस समय जो कुछ लिखा गया, मैं अब स्वीकार करता हूँ, वह मेरा बुद्धिवाद नहीं था। कहना मुझे यह था कि साहित्य और कला में पश्चिम का अनुकरण न कर हमें अपने भाव-लोक का अनुसरण करना है।"[2] यह और भी आश्चर्यजनक है कि उनके सभी तथाकथित समस्या-नाटक प्रसाद के जीवन-काल में ही लिखे गये और फिर एक लम्बे अन्तराल के बाद जब वे पुनः नाट्य-लेखन की ओर उन्मुख हुए तो उनकी नाट्य-धारा वही थी जो प्रसाद की थी। प्रसाद के निधन के उपरान्त उन्होंने जो नाटक लिखे, उनका कथानक ऐतिहासिक-पौराणिक है और मूल-चेतना राष्ट्रीय-सांस्कृतिक।[3] यों, उनका पहला नाटक अशोक भी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक ही था।

प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटक का प्रारंभ वस्तुतः प्रसाद के निधन-वर्ष या और सही शब्दों में छायावाद के पतन और प्रगतिवाद के जन्म से ही मानना चाहिए। प्रसाद-युग में लिखे गये लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों को प्रसादोत्तर युग की पूर्वपीठिका और प्रसाद-युग की समस्यामूलक नाट्य-धारा के रूप में देखना कहीं संगत होगा, क्योंकि 'साहित्यिक प्रवृत्तियों या वादों का प्रवर्तन भौतिक घटनाओं के समान किसी एक तिथि पर नहीं होता, अतः उसके उद्भव की सीमा एक निर्णीत तिथि या संवत् न होकर व्यापक कालावधि में सन्निविष्ट रहती है।"[4] साहित्य के युगान्तर को किसी एक निश्चित तिथि में परिसीमित करना इसी आधार पर तर्क-संगत ठहराया जा सकता है कि वह तिथि किसी विशिष्ट युगान्तकारी कृति के प्रकाशन, राष्ट्र-जीवन को प्रभावित करने वाली ऐतिहासिक घटना, किसी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक मोड़ अथवा किसी युग-निर्माता के उत्थान-पतन से सम्बद्ध है। सन् १९३६ जहाँ प्रसाद की रचनावधि की

---

१. प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन, डॉ० सिद्धनाथ कुमार, पृ० २१२
२. मुक्ति का रहस्य, (संस्करण : १९७६) 'उन्नीस वर्ष बाद' शीर्षक भूमिका, पृ० २५
३. द्रष्टव्य : गरुड़ध्वज, नारद की वीणा, वत्सराज, दशाश्वमेध, वितस्ता की लहरें, चक्रव्यूह, धरती का हृदय आदि नाटक।
४. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षष्ठ भाग), संपादक—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उत्तर-सीमा है, वहाँ छायावाद के पतन और प्रगतिवादी आन्दोलन के सूत्रपात का ऐतिहासिक निर्देश भी है।[1] हिन्दी-साहित्य के समग्र परिवेश में इसी समय से परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। साहित्य की अन्य विधाओं के समान, नाटक के क्षेत्र में भी इस दौर में कथ्य और शिल्प की दृष्टि से एक बदलाव दिखायी देने लगता है। इसी समय उपेन्द्रनाथ 'अश्क' नाट्य-लेखन की ओर उन्मुख होते हैं और उसे यथार्थवादी रंग-शिल्प से जोड़ने का प्रयास करते हैं।

स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त हिन्दी-नाटकों के कथ्य और शिल्प में एक अलगाव दृष्टिगत होता है, अतः यहाँ हमारा विनम्र प्रयास मुख्यतः हिन्दी की स्वातंत्र्यपूर्व महत्त्वपूर्ण-मौलिक प्रतिनिधि नाटकों के रस-विधान के अन्वाख्यान का रहा है। इस कालावधि की मूल चेतना स्वाधीनता-प्राप्ति के तीव्रतर संघर्ष की है, फलतः इस काल-खण्ड के नाटकों में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य, देश-भक्ति, कर्त्तव्यनिष्ठा, बलिदान-भावना और वीरत्व की अनुगूंज है—और तदनुकूल इन नाटकों का रस-विधान भी है। इस युग में जहाँ एक ओर प्रसादयुगीन नाटककारों—हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्दबल्लभ पन्त, सेठ गोविन्द दास आदि—के नाटक प्रकाशित हुए, वहाँ अनेक नये नाटककारों के नाटक भी प्रकाश में आए। इन नाटककारों में उपेन्द्रनाथ अश्क का नाम तो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ही, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', उदयशंकर भट्ट, वृन्दावन लाल वर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। प्रसाद की ऐतिहासिक नाट्य-धारा के साथ सामाजिक और पौराणिक नाटक भी इस कालखण्ड में लिखे गये। जहाँ कुछ नाटककार प्रसाद के प्रभाव-वलय से मुक्त नहीं हो सके, वहाँ अश्क जैसे कुछ अन्य नाटककारों ने कथ्य और शिल्प के धरातल पर उस प्रभाव से मुक्त होने का प्रयास ही नहीं किया, हिन्दी नाटक को एक नयी दिशा भी दी। नाटक को रंगमंच से जोड़ने के साथ अपने शिल्पगत नये प्रयोगों के कारण भी उपेन्द्रनाथ अश्क ने हिन्दी-नाट्यालोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है। हिन्दी के समर्थ नाट्यालोचक नेमिचन्द्र जैन तो अश्क के अतिरिक्त इस कालखण्ड के अन्य सभी नाटककारों को हर दृष्टि से नितान्त अप्रासंगिक, महत्त्वहीन और अनुल्लेखनीय मानते हैं, किन्तु उनका यह अतिवादी और एकांगी दृष्टिकोण स्वीकार्य नहीं हो सकता। इस अवधि की राष्ट्रीय-चेतना के विकास और उद्बोधन में शेष नाटककारों के नाटकों का जो योगदान है वह अनुपेक्षणीय है और हमें उन नाटककारों का मूल्यांकन आज की परिस्थितियों में न कर तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में ही करना चाहिए। अस्तु !

---

१. देखिए—आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ० नामवर सिंह, पृ० ६, ६६

२. स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य (नेमिचन्द्र जैन का 'नाटक' शीर्षक' लेख), संपादक— डॉ० महेन्द्र भटनागर, पृ० ६६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि नाटकों की रस-दृष्टि से व्यावहारिक समीक्षा

शिवा-साधना : हरिकृष्ण प्रेमी

हरिकृष्ण प्रेमी के अधिकतर नाटकों की मूल सृजन-भूमि राष्ट्रीयता और देश-भक्ति है।[1] मुगलकालीन इतिहास के आधार पर लिखित उनके नाटकों में अपने समय की राष्ट्रीय-चेतना और स्वाधीनता-संग्राम की अनुगूँज तो है ही, पाठकों-दर्शकों को देशभक्ति की प्रेरणा देने की अद्भुत शक्ति भी है। इस दृष्टि से उनके ऐतिहासिक नाटक[2] 'शिवा साधना' (सन् १९३७ ई०) का विशेष महत्त्व है।[3] 'शिवा-साधना' वस्तुतः स्वराज्य-साधना का पर्याय है, उसी का मूर्तिमन्त रूप है, किन्तु यहाँ इस साधना के साधक शिवाजी हैं। शिवाजी की चारित्रिक दृढ़ता, देशभक्ति, वीरता, स्वार्थहीनता और दृष्टिकोण की उदारता-व्यापकता के माध्यम से नाटककार ने मानो तत्कालीन भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के कर्णधारों को एक नयी राह दिखाकर देशवासियों को आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा दी है। राष्ट्र और राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में नाटककार की दृष्टि व्यापक, उदार सन्तुलित, विवेकसम्मत और आधुनिकताबोध-सम्पन्न है। नाटक के नायक शिवाजी में यही दृष्टि प्रतिफलित हुई है। शिवाजी की स्वराज्य-साधना मात्र हिन्दुओं तक सीमित नहीं। वे जाति, वर्ण, सम्प्रदाय और ऊँच-नीच के भेद-भावों से ऊपर उठकर, क्षुद्र स्वार्थों को त्यागकर, देश को सर्वोपरि मानकर, लोकमत को साथ लेकर, धार्मिक सहिष्णुता को अपनाकर स्वातन्त्र्य-साधना का व्रत लेते हैं और उसी की प्रेरणा अपने संगी-साथियों को भी देते हैं। उनकी दृष्टि में, वीरता एक वस्तु है, और साधना दूसरी। मृत्यु का सहसा आलिंगन आसान है, किन्तु, एक दुस्साध्य और सुदीर्घ साधना के लिए जीवन का प्रत्येक पल भीषण कष्ट और नारकीय यन्त्रणा में व्यतीत करना बहुत कठिन है।'[4] स्पष्टतः यहाँ वीरता और देशभक्ति का भेद व्यंजित है—वीर होना सरल है, किन्तु देशभक्त होना कठिन। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण शिवाजी अन्यत्र राजपूतों की वीरता और स्वामि-भक्ति की प्रशंसा करते हुए भी राष्ट्रीय-दृष्टिकोण-विहीन परम्परित दृष्टि पर व्यंग्य करते हैं : 'यह राजपूत जाति कितनी वीर और कितनी दृढ़ है, किन्तु इसका दृष्टिकोण कितना भोला और कितना पुराना है।' (पृ०१२३) शिवाजी के व्यक्तित्व में आधुनिकताबोध-सम्पन्न राष्ट्रीय-चेतना का जो समाहार है, उसी

१. इन नाटकों की मूल प्रेरणा है राष्ट्रीयता (देशभक्ति)।

—आधुनिक हिन्दी नाटक, डॉ० नगेन्द्र, पृ० २२

२. 'शिवा-साधना' में प्रेमी जी ने कल्पना का उपयोग भी किया है और इतिहास की रक्षा भी। डॉ० बच्चन सिंह इस नाटक को इतिहास-नाटक कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं। उनके अनुसार 'यह ऐतिहासिक नाटक न होकर, बहुत कुछ इतिहास-नाटक हो गया है।' —हिन्दी नाटक, पृ० १०८

३. डॉ० सोमनाथ गुप्त ने 'शिवा-साधना' को ऐतिहासिक धारा का एक प्रमुख नाटक माना है (दे० 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ० २३६)। डॉ० वेदपाल खन्ना 'विमल' ने भी इसी मत का समर्थन किया है (दे० 'हिन्दी-नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन', पृ० २२१)।

४. शिवा-साधना, पृ० १७-१८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

के फलस्वरूप वे अपने साथियों— येसाजी कंक, वाजी पासलकर और तानाजी मालुसुरे से नाटक के प्रारम्भ में कहते हैं : 'मैं विवेक-हीन आज्ञा-पालन, अन्ध अनुकरण नहीं चाहता । मैं चाहता हूँ तुम सबको वे आँखें प्राप्त हों जो दीन-दुखियों की आँखों के पानी में छिपी हुई आग को देख सकें, वह हृदय प्राप्त हो जो अत्याचार के साम्राज्य को तहस-नहस करके धूल में मिला देने को आठों प्रहर आतुर रहे ।' (पृ० १९) इस आधुनिक दृष्टि का नाटककार ने आद्यन्त निर्वाह किया है और अपने इसी धरातल पर यह एक आधुनिक नाटक है । इस नाटक में व्यक्त राष्ट्रीय-चेतना वीर रस के उतनी निकट नहीं पड़ती जितनी कि देश-भक्ति रस के निकट है ।

'शिवा-साधना' का वस्तु-विधान भी देश प्रेम के अनुकूल है । नाटक का आदि, मध्य और अन्त इसी भाव से प्रेरित है । नाटक के प्रारम्भ में ही शिवाजी माँ भवानी से प्रार्थना करते हैं—'माँ भवानी ! इस उज्ज्वल आकांक्षा की आग को अपने आशीर्वाद से तीव्र कर दो । मुझे बल दो, साहस दो और वह अदम्य पागलपन दो, जिससे मैं स्वातन्त्र्य-साधना में केवल सांसारिक सुखों की ही नहीं बल्कि प्राणों की आहुति भी दे सकूँ । निस्पृह, निर्विकार, निर्लिप्त और निरहंकार होकर कर्म कर सकूँ ।' (पृ० १६) शिवाजी के समवयस्क मित्र भी इसी प्रार्थना के साथ यह प्रतिज्ञा लेते हैं—'हम राष्ट्र के लिए अपना शेष जीवन अर्पित करते हैं । हम देश और समाज के लाभ के लिए अपने सुखों और हितों की वलि दे देने को प्रस्तुत हैं ।' (पृ० २०) यावज्जीवन शिवाजी के ये मित्र प्राण-पण से इस प्रतिज्ञा का पालन करते हुए अन्ततः स्वाधीनता की बलिवेदी पर हँसते-हँसते प्राणोत्सर्ग कर देते हैं । शिवाजी के जीवन का तो एक-मात्र लक्ष्य ही भारत को स्वाधीन कराना है । वे अपने मित्रों से कहते हैं : '··· मेरे शेष जीवन की एक-मात्र साधना होगी भारतवर्ष को स्वतन्त्र करना, दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊँच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की क्रांति करना ।' (पृ० १९) अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुरूप अहर्निश कर्म करते हुए अन्ततः शिवाजी अपने लक्ष्य को बहुत-कुछ प्राप्त कर लेते हैं । लक्ष्य-सिद्धि के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों, विघ्नों-बाधाओं पर तो वे विजय प्राप्त करते ही हैं, अपनी सुकुमार भावनाओं का भी गला घोंट देते हैं । महाराष्ट्र-वीर छत्रपति शिवाजी के संगठन-प्रयत्नों और आक्रमणों से क्रुद्ध होकर बीजापुर का बादशाह महमूद आदिलशाह उनके पिता शाहजी को बन्दी बना लेता है, शिवाजी के संरक्षक स्वामि-भक्त दादाजी कोंडदेव शिवाजी द्वारा स्वाधीनता-पथ का परित्याग न करने के फलस्वरूप ज़हर खाकर आत्महत्या कर लेते हैं, शिवाजी की पत्नी सईबाई का रुग्ण शरीर उनका साथ छोड़ देता है, छल से औरंगजेब आगरे के किले में शिवाजी को बन्दी बना लेता है, शिवाजी के अनेक अन्तरंग मित्र मातृ-भूमि पर बलिदान हो जाते हैं, किन्तु शिवाजी अपने जीवन के महान् लक्ष्य से विचलित नहीं होते । पिता, भाई और पत्नी की मृत्यु से वे कर्त्तव्य-च्युत नहीं होते, किन्तु अन्ततः माँ जीजाबाई की मृत्यु उन जैसे लौह-पुरुष को भी हिला जाती है । देशप्रेम की प्रेरिका माँ की मृत्यु से शिवाजी में निर्वेद जगता है किन्तु यह स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पाता । समर्थ गुरु

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रामदास के उद्‌बोधन से वे पुनः स्वातन्त्र्य-संग्राम में कूद पड़ते हैं और यहीं यह नाटक समाप्त हो जाता है। स्पष्टतः नाटक की सारी कथा, उसकी मूल-चेतना—देशभक्ति के अनुरूप है। नाट्‌ककार ने नाटकीय वस्तु की योजना देशभक्ति के लिए अत्यन्त सजग और सतर्क रूप में की है। अपने एक अन्य नाटक 'स्वप्नभंग' की भूमिका में हरिकृष्ण प्रेमी ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि 'मैंने अपने नाटकों द्वारा राष्ट्रीय एकता के भाव पैदा करने का यत्न किया है।'[1]

अपने उक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी ने अपने नाटकों का ताना भारतीय इतिहास के मुस्लिम काल से बुना और नायक-नायिका के रूप में उन आदर्शवादी सात्विक मनोवृत्ति के पात्रों को चुना कि जो राष्ट्रीय एकता और देश-भक्ति की साकार प्रतिमा हों। 'शिवा-साधना' के शिवाजी आदर्श मानव, उद्‌भट वीर, अप्रतिम देशभक्त, विवेकशील चिन्तक और प्रजा-वत्सल कर्त्तव्यनिष्ठ शासक हैं। धीरो-दात्त गुणान्वित शिवाजी फल के भोक्ता होने से इस नाटक के नायक और सर्वाधिक सशक्त पुरुष पात्र हैं। भवानी, मातृ-भूमि और माँ जीजाबाई के भक्त शिवा का व्यक्तित्त्व देशभक्ति रस के सर्वथा अनुकूल है। उसके जीवन की एक-मात्र साधना है भारत माँ की बेड़ियों को काटकर उसे स्वाधीन बनाना और भारतीयों के जीवन का अभ्युत्थान करना। 'उसने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए तलवार उठाई है।' 'वह केवल शाहजी या जीजाबाई का बेटा नहीं है—वह कुमारी अन्तरीप से नागा पर्वत पर्यन्त फैले हुए विराट देश के दीन-दुखी परतन्त्र हृदयों का आधार है—करोड़ों माताओं का पुत्र है।' (पृ० ३४) अपनी महान् साधना के प्रति वह सतत जागरूक है। उसकी कामना है कि 'मैं मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर उठ सकूँ। मैं 'शिवाजी की जय' के नारे सुनकर इतना पुलकित न हो जाऊँ कि दीन-दुखियों की आवाज न सुन सकूँ।' (पृ० ९६) वस्तुतः 'शिवा-साधना' के शिवा इस नाटक के ही नायक नहीं, राष्ट्र के भी नायक हैं। उनके जीवन की एक-मात्र चिन्ता भारत-भूमि को स्वाधीन कराने और दीन-दुखियों को सुखी बनाने की है। वे जयसिंह से कहते हैं: '....मैं आपको स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि मुझे व्यक्तिगत रूप से राज्य नहीं चाहिए, धन-ऐश्वर्य नहीं चाहिए, सुकीर्ति भी नहीं चाहिए। मैं तो माँ—भारत—को दीन-दुखी देखकर व्यथित हूँ। मैं उसे स्वाधीन देखना चाहता हूँ।' (पृ० १०६-७) राष्ट्र-नायक शिवाजी के इसी आदर्श व्यक्तित्व और निःस्वार्थ ओजस्वी रूप के कारण उसके शत्रु भी उसके प्रशंसक हैं और औरंगजेब की पुत्री ज़ेबुन्निसा तो उसके प्रेम में दीवानी ही हो गयी है।

नायक के समान 'शिवा-साधना' की नायिका का चरित्र भी उज्ज्वल, कमनीय और देश-प्रेम से आपूरित है। 'शिवा-साधना' की नायिका किसे माना जाए—सईबाई

१. स्वप्नभंग, भूमिका
२. शिवा-साधना, पृ० ४१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

को, जेबुन्निसा को, अकाबाई को या जीजाबाई को ? सईबाई शिवाजी की पत्नी तो है ही, राजनीतिविशारदा भी है। उसकी राजनीतिक सूझबूझ की प्रशंसा स्वयं शिवाजी और जीजाबाई करती हैं,[1] स्वाधीनता संग्राम के महाव्रत-साधन में उसके सहयोग की अभिशंसा समर्थ गुरु रामदास करते हैं[2] और उस जैसी सहचरी पाकर शिवाजी स्वयं को धन्य मानते हैं,[3] किन्तु इस सब के बावजूद उसे इस नाटक की नायिका नहीं माना जा सकता। नाटकों में उसकी उपस्थिति इतनी कम है कि नायिका के गौरवास्पद पद पर वह आसीन नहीं हो सकती। औरंगज़ेब की पुत्री शहज़ादी ज़ेबुन्निसा का दृष्टिकोण उदार और मानवीय है, उसमें देशभक्ति का भाव भी है और वह नाटक के नायक शिवाजी से प्रेम भी करती है, पर वह भी इस नाटक की नायिका नहीं है। एक तो उसका प्रेम एकांगी है, दूसरे नाटककार ने उसकी चरित्र-सृष्टि एक गौण लक्ष्य की सिद्धि के लिए की है और तीसरे उसमें नायिकोचित संघर्ष नहीं है, अतः उसे भी नायिका नहीं माना जा सकता। रामदास की शिष्या अकाबाई अपने उद्बोधन गीतों से देशभक्ति के भाव जगाती है, पर वह इस नाटक की गौण नारी पात्र है, नायिका नहीं। शिवा की माँ जीजाबाई ही 'शिवा-साधना' की सर्वाधिक सशक्त नारी पात्र है। नायक की पत्नी अथवा प्रेयसी न होने पर भी वही इस नाटक की नायिका है। नाटककार ने उसके चरित्र की सुदृढ़ रेखाओं के साथ उसे अप्रतिम देशभक्त और पतिव्रता-पुत्रवत्सला नारी के रूप में भी उकेरा है। शिवाजी के निर्माण में सर्वाधिक उसी का हाथ है, तभी तो उसकी मृत्यु पर शिवाजी विचलित हो जाते हैं। शिवाजी की देशभक्तिपूर्ण गतिविधियों की वह प्रेरणा-स्रोत है, सूत्रधारिणी है, संचालिका है। उसके लिए 'देश सर्वोपरि है'। शिवाजी को नाटक के प्रारम्भ में देशभक्ति की प्रेरणा देते हुए वह कहती है : 'मैं पिता, पति, बन्धु-बान्धव, सुख, स्वार्थ कुछ नहीं जानती। मैं केवल देश को जानती हूँ और तुम्हें आदेश करती हूँ कि देश की स्वाधीनता ही तुम्हारे जीवन की चरम साधना हो।' (पृ० २३) अन्यत्र भी वह अपने इन्हीं उद्गारों को व्यक्त करती है,[4] साथ ही स्वाधीनता सेनानियों के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों से भी शिवाजी को आगाह कराती है।[5]

नाटक के शेष पात्र भी इस लक्ष्य की सिद्धि में सहायक हैं। रामदास की अवतारणा तो मानो राष्ट्र पर मर मिटने का उपदेश देने के लिए ही हुई है,[6] बाजी देशपांडे, बाजी पासलकर, तानाजी मालुसुरे आदि के क्रिया-कलाप और आत्म-बलिदान भी दर्शक-पाठक के हृदय में देशभक्ति जगाते हैं। यहाँ तक कि शत्रुपक्ष के दिलेरखां जैसे सरदार

---

१. शिवा-साधना, पृ० ३४-३५
२. वही, पृ० ४५
३. वही, पृ० ५१
४. वही, पृ० ३३
५. वही, पृ० ३१
६. वही, पृ० ४३-४५, ६५-६६ ७०२-७६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भी मराठा सरदारों की वीरता, साहस और देशभक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।[1]

देशभक्ति को स्वतन्त्र रस के रूप में मान्यता न देने वाले आलोचक 'शिवा-साधना' के अंगी रस के रूप में वीर रस को स्वीकृति दे सकते हैं, किन्तु वीर रस यहाँ देशभक्ति रस के अंग-रूप में ही आया है। वस्तुतः 'शिवा-साधना' का अंगी देशभक्ति रस है और शेष रसों की योजना यहाँ अंग रसों के रूप में ही की गयी है। जहाँ शत्रु के विरुद्ध रण-प्रयाण का चित्रण राज्य-विस्तार, अहं की तुष्टि, आत्म-रक्षा या अन्य किसी संकुचित दृष्टि से किया गया हो यहाँ वीर रस मानना चाहिए और जहाँ वह अभियान किसी बृहत्तर राजनीतिक, राष्ट्रीय अथवा स्वदेश-गरिमा की चेतना से संश्लिष्ट होकर किया जा रहा हो वहाँ देशभक्ति रस मानना ही युक्तियुक्त है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'शिवा-साधना' के नायक शिवाजी के समग्र कार्य-व्यापार, उत्साह, क्रोध और आवेग की मूल प्रेरणा-शक्ति है देशप्रेम, जो देशभक्ति रस का स्थायी भाव है और उनकी सभी गतिविधियाँ, मुगलों के विरुद्ध उनका अभियान बृहत्तर राष्ट्रीय चेतना और स्वदेश गरिमा से प्रेरित है। देशवासियों की दुर्दशा से वे पीड़ित-चिन्तित हैं, राष्ट्र के भावी स्वरूप की एक स्पष्ट रूपरेखा उनके दृष्टि-पटल के सामने है, आक्रामक तत्त्वों और साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के प्रति उनके मन में गहरा असन्तोष एवं आक्रोश है तथा मातृ-भूमि की बलिवेदी पर आत्मोत्सर्ग के लिए वे सन्नद्ध हैं। उनका यह रूप मात्र वीर-पुरुष का न होकर एक राष्ट्रनायक और सच्चे देशभक्त का है। शिवाजी का देशप्रेम विरोध-अविरोधी भावों से दबता नहीं, उत्तरोत्तर प्रकर्ष को ही प्राप्त करता है। पिता शाहजी को महमूद आदिलशाह द्वारा दी गयी यातनाएँ, मित्रों के बलिदान, पत्नी की मृत्यु, अपने जीवन के संकट आदि उन्हें हतोत्साहित न कर दृढ़तर बनाते हैं और वे स्वाधीनता-पथ पर और मजबूती से आगे बढ़ते हैं। उनके जीवन में दो बार ऐसे प्रसंग उपस्थित होते हैं जब वे इस कर्त्तव्य-पथ से च्युत हो सकते थे, पर वे उस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर अपनी चारित्रिक दृढ़ता और अजस्र देश-भक्ति का सबूत देते हैं। एक तो तब जब सोनदेव द्वारा बन्दी बनाकर लायी गयी कल्याण के शासक मौलाना अहमद की अनुपम सुन्दरी पुत्र-वधू को माँ कहकर वे ससम्मान विदा करते हैं[2] और दूसरे तब जब हीरोजी फरजंद के मुँह से वे अपने प्रति जेबुन्निसा के रागात्मक आकर्षण की बात सुनकर उसे फटकारते हुए कहते हैं—'हीरोजी, संयम से काम लो। शिवाजी ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं है। लोग कुछ भी कहें, हमें शत्रुकन्या की प्रतिष्ठा का उतना ही ख़याल रखना चाहिए, जितना अपनी कन्या का। और फिर तुम जानते हो कि शिवाजी के हृदय में स्वर्ग की अप्सरा के लिए भी स्थान नहीं है, वह केवल जननी जन्म-भूमि को जानता है। शिवाजी कंगाल और कृश-तन कृषकों को प्यार करता है, वस्त्रहीन और कुरूप श्रमियों पर जान देता है, उसके सामने

१. शिवा साधना, पृ० ९९

२. वही, पृ० ३०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

नारी-सौंदर्य और रस-चर्चा...।' (पृ० ११९-२०) किसी सामान्य व्यक्ति को कर्त्तव्य-च्युत करने के लिए श्रृंगार के ये आलंबन अलम् हो सकते थे, सतत् मातृ-भू की मुक्ति-चिन्ता में लीन शिवाजी के लिए नहीं। माता जीजाबाई की मृत्यु शिवाजी को कुछ विचलित अवश्य करती है, पर उनकी जीवन-धारा को मोड़ नहीं पाती। इस अवसर पर संसार की निःसारता उनके मन में निर्वेद का संचार तो करती है,[1] पर यह निर्वेद संचारी से आगे नहीं बढ़ पाता। वे थके हृदय से भवानी की मूर्ति के सम्मुख जैसे ही तलवार रखते हैं, स्वामी रामदास उपस्थित होकर उन्हें उद्बुद्ध करते हैं, फलतः उनका देश-प्रेम पुनः जगता है और वे अपने पूर्व-पथ पर दृढ़ता-पूर्वक चल पड़ते हैं।[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि 'शिवा-साधना' में नाटककार ने देश-प्रेम की योजना स्थायी भाव के रूप में की है। यह भाव नाटक के प्रमुख पात्रों में तो आद्यन्त विद्यमान है ही, अनेक गौण पात्रों में भी है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि देशभक्ति या राष्ट्रप्रेम किसी वस्तुगत सत्य की अपेक्षा एक भाव-विशेष है जिसमें राष्ट्र की अन्तःसत्ता के साथ तदाकारिता की भावना छिपी हुई है और यह अन्तःसत्ता उस विशिष्ट भूखण्ड की वह गुणात्मक स्थिति है जो अपने विशिष्ट रूप में भू, जन और संस्कृति तीनों की पहचान और सौन्दर्य में निहित है। शिवाजी में भारत-भूमि के साथ तदाकारिता की यही भावना साकार हुई है।

देशभक्ति रस के विभावों के अन्तर्गत स्वदेश की प्रकृति, संस्कृति, भूमि, संस्कार, भाषा, वेशभूषा, जन के प्रति निजता और गौरव की भावना, अतीत-गौरव का स्तवन, वर्तमान दुर्दशा का चित्रण आदि आते हैं। 'शिवा-साधना' में नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी ने यत्र-तत्र इन विभावों की योजना की है। अनेकत्र वर्तमान दुर्दशा का चित्रण है : 'ये भूखे-नंगे मराठे सह्याद्रि की पर्वत-माला में आश्रयहीन घूम रहे हैं।'[3] 'इस भ्रमण में मैंने जन्मभूमि का जो रूप देखा, उससे मेरा हृदय टूक-टूक हो गया। मैंने देखा धन-सम्पत्ति सब समाप्त हो गई है, सब प्रदेश सुनसान और निस्तब्ध हैं, जनता के पास खाने को अन्न नहीं, पहनने-ओढ़ने को कपड़े नहीं, घर बनाने को उपादान नहीं। यह सब देखकर मेरे हृदय में हाहाकार गरज उठा।' (पृ० ४२) भारत-भूमि की यह दुर्दशा ही शिवाजी की स्वातन्त्र्य-साधना को उद्दीपित करती है, धार्मिक और सामाजिक क्रांति की प्रेरणा देती है। स्वामी रामदास अनुभव करते हैं कि 'देश की आर्थिक स्थिति सुधारना सर्वप्रथम कर्तव्य है और वह तब तक नहीं सुधर सकती जब तक देश पराधीन है, परतंत्र है। शिवाजी भारतीय जनता के प्रति गौरव की भावना से तो ओत-प्रोत हैं ही, आत्मीयता का अनुभव भी करते हैं। सभी धर्मों, वर्णों, जातियों और सम्प्रदायों के प्रति उनके मन में समादर का भाव है। वे मोरोपन्त से कहते हैं : '...मैंने कभी किसी मसजिद की एक ईंट को भी आँच नहीं आने दी। जहाँ

---

१. शिवा-साधना, पृ० १७०-७१
२. वही, पृ० १७२-७६
३. वही, पृ० २३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मुझे कुरान मिला है मैंने उसे आदर के साथ किसी मौलवी के पास पहुँचा दिया है।...मैं जो बीजापुर और दिल्ली की बादशाहत की जड़ उखाड़ डालना चाहता हूँ वह इसलिए नहीं कि वे मुसलिम राज्य हैं, बल्कि इसलिए कि वे आततायी हैं, एक-तन्त्र हैं, लोकमत को कुचल कर चलने के आदी हैं।' (पृ० २६) माँ भवानी की आरती के माध्यम से भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के प्रति वीरवर शिवा की आस्था तो व्यक्त हुई ही है, देश प्रेम भी उद्दीप्त हुआ है। माँ भवानी की आरती के अतिरिक्त अकाबाई और स्वामी रामदास द्वारा गाये गये गीतों की योजना भी उद्दीपन विभाव के ही अन्तर्गत की गयी है। ये गीत देशप्रेम को उद्बुद्ध और उद्दीप्त कर आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा देते हैं।

देशभक्ति रस के प्रधान आश्रय शिवाजी हैं तो आलम्बन परतन्त्र भारत-भू है। पराधीन भारत-माता की दुर्दशा की अभिव्यक्ति देश में रहने वाले व्यक्तियों की दुर्दशा, दैन्य, अभावों और पीड़ा आदि के द्वारा की गयी है जो उद्दीपन विभाव का काम करते हैं। शौर्य, त्याग, नैपुण्य, धैर्य, स्थैर्य, पुलक, रोमांच, अश्रुपात आदि इसके अनुभाव तथा धृति, मति, गर्व, आवेग, अमर्ष, स्मृति, उग्रता, मोह, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी ने यथा-स्थान इन अनुभावों और व्यभिचारी भावों की योजना भी 'शिवा-साधना' में की है।

'शिवा-साधना' के विभाव-विधान को हम देख चुके हैं। अब अनुभाव-विधान और संचारी भावों की योजना को भी देख लें। देशभक्त शिवाजी तथा उनके सहयोगियों के संलापों और कार्य-व्यापारों से उनका शौर्य, त्याग, धैर्य और स्थैर्य व्यंजित है। मातृ-भूमि की बलिवेदी पर उनके अनेक मराठा सरदार हँसते-हँसते प्राणोत्सर्ग कर देते हैं। स्वयं शिवाजी नाटक के प्रारम्भ में माँ भवानी के सम्मुख ऐसी प्रतिज्ञा लेते हैं।[1] इन अनुभावों का अभिनय अभिनेता अपनी ओज-दीप्त, सश्रद्ध वाणी के द्वारा सहज-भाव से कर सकते हैं। आगरा के किले में बन्दी शिवाजी का मिठाई के टोकरों में बैठकर निकल आना भी एक देश भक्त के प्रत्युत्पन्नमतित्व, नैपुण्य, शौर्य, धैर्य और स्थैर्य को ही ध्वनित करता है। ऐसे स्थलों पर दर्शक-पाठक पुलक और रोमांच का अनुभव करते हैं और देशभक्ति रस में निमज्जित हो जाते हैं। एक देशभक्त जब देश के किसी भाग को आततायियों के चंगुल से मुक्त करा लेता है तो पुलक, हर्ष, आवेग की अनुभूति करता है जो उसके कथनों से व्यक्त हो जाती है। इस अवसर पर वह अपने दिवंगत वीरों का सश्रद्ध स्मरण करता है और वीर सैनिकों को पुरस्कृत भी। 'शिवा-साधना' में ऐसे स्थल अलभ्य नहीं हैं। नाटककार इन अनुभावों-संचारियों की योजना के प्रति सचेष्ट और सजग रहा है। दूसरे अंक के छठे दृश्य में शिवाजी बाजी देशपाण्डे और बाजी पासलकर की वीरता और अभूतपूर्व बलिदान का सश्रद्ध स्मरण करते हैं[2]

१. शिवा-साधना, पृ० १६
२ वही, पृ० ७३-७४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

तो पाँचवें अंक के चौथे दृश्य में इनके साथ तानाजी मालुसुरे, प्रतापराव गूजर तथा अन्य देश-भक्तों का भी ।[1] इन स्थलों पर स्मृति संचारी की सुन्दर योजना है। गर्व और चिन्ता नामक संचारियों की योजना शिवाजी के इस एक ही संलाप में द्रष्टव्य है।...'हाँ, हाँ, मैं अमर हूँ। जन्मभूमि की पुकार पर मस्तक चढ़ाने का हौसला रखने वाला प्रत्येक सिपाही अमर है, क्योंकि उसके बाद उसकी भावना जीवित रहती है। फिर भी आज जीवन और मरण के सन्धि-स्थल पर खड़ा होकर मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ...।' (पृ० ५७-५८) येसाजी के प्रति कहे गये शिवाजी के इस संवाद में जहाँ अपने देशभक्त होने तथा अन्य देशभक्तों पर 'गर्व' की अनुभूति है वहाँ अपनी मृत्यु के वाद देश का, स्वाधीनता-संग्राम का क्या होगा, इसकी चिन्ता भी। चिन्ता का यह भाव आगरे में नज़रवन्द शिवाजी के कथनों में भी है।[2] शिवाजी द्वारा देशद्रोहियों को दिये गये प्राण-दण्ड और उनकी भर्त्सना में जुगुप्सा और उग्रता संचारियों की योजना है[3] तो औरंगजेब के भरे दरबार में शिवाजी के साहस और शौर्य के हैरतअंगेज़ नज़ारे में अमर्ष की। शिवाजी और जयसिंह[4] तथा शिवाजी और रामसिंह[5] के संलापों में धृति, मति, गर्व, आवेग, नैपुण्य आदि की योजना सहज ही लक्षित की जा सकती है।

कहने की आवश्यकता नही कि उक्त विभावानुभावादि के योग से परिपुष्ट होकर देशप्रेम नामक स्थायी भाव 'शिवा-साधना' में देशभक्ति रस में निष्पन्न हो गया है। नाटक को देख-पढ़कर सहृदय सामाजिक भी साधारणीकरण व्यापार द्वारा साधारणीकृत होकर इसी रस का आस्वाद प्राप्त करता है। वस्तुतः यह देशभक्ति रस ही 'शिवा-साधना' का अंगी या प्रधान रस है। 'शिवा-साधना' में व्यक्त शेष रस या भाव इसी के अंग-भूत हैं।

अंग-रूप में 'शिवा-साधना' में जिन रसों-भावों की योजना की गयी है उनमें मुख्य हैं वीर और शृंगार। शिवाजी स्वयं तो अप्रतिम वीर हैं ही, उनके अन्य मराठा सरदार भी उद्भट योद्धा हैं। इन वीरों में देश प्रेम या स्वामिभक्ति-प्रेरित जो उत्साह का स्थायी भाव है वह विभावादि से परिपुष्ट होकर 'शिवा-साधना' में अनेकत्र वीर रस में व्यक्त हुआ है। अफज़लखां से हुए द्वन्द्व युद्ध में शिवाजी की युद्धवीरता व्यंजित है[6] तो राज्याभिषेक के अवसर पर दिवंगत वीरों के परिजनों या जीवित वीरों को सम्मानित-पुरस्कृत करने में उनकी दानवीरता।[7] कल्याण प्रदेश के शासक मौलाना

---

१. शिवा-साधना, पृ० १६२-६५
२. वही, पृ० ११६
३. वही, पृ० ७९
४. वही, पृ० १०५-१०
५. वही, पृ० १२०-२३
६. वही, पृ० ५९-६०
७. वही, पृ० १५९-६५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अहमद की रूपसी पुत्र-वधू को 'माँ' कहकर पुकारने में शिवाजी की धर्मवीरता है[१] तो उसके श्वसुर को बन्धन-मुक्त कर देने में दयावीरता।[२] शिवाजी की धर्मवीरता और दयावीरता का यही रूप केसरीसिंह की माँ और पुत्री के प्रति किये गये व्यवहार में भी[३] व्यक्त हुआ है और दिलेरखाँ को पुरन्धर पर कब्जा कर लेने देने में भी।[४] दिलेरखाँ स्वयं भी इस बात को अनुभव करता है और जयसिंह से कहता है: 'हाँ, मेरे सर पर पगड़ी बँधेगी तो सही, लेकिन वह शिवाजी की मेहरबानी से, दिलेरखाँ की दिलेरी से नहीं···मुझे इसका अफ़सोस···[५], किन्तु दयावीर शिवाजी इसका प्रतिवाद कर देते हैं। इस नाटक में शिवाजी के अतिरिक्त अन्य अनेक वीरों की वीरता के चित्रण में भी वीर रस की ही अभिव्यक्ति हुई है, इसमें वाजी,[६] मुरार वाजी प्रभु[७] और तानाजी की वीरता[८] अनुपम है।

'शिवा-साधना' में श्रृंगार की योजना भी अंग-रूप में ही है। इसके दोनों रूप—संयोग और वियोग—यहाँ हैं। शिवाजी की माँ—जीजाबाई वियोग की अग्नि में जल रही है, यह उसके एक कथन से व्यंजित है: कर्त्तव्य! जीजाबाई ने न पिता का स्नेह पाया, न पति का प्रेम और न ऐश्वर्य का आशीर्वाद। उन्होंने तो वर्षों से मेरा मुँह भी नहीं देखा।[९] उद्बुद्ध स्थायी मात्र होने के कारण यह श्रृंगाराभिव्यक्ति भाव कोटि की है। जीजाबाई की यह अपरितृप्ति देशप्रेम की ओर मुड़ गयी है और इसी की क्षतिपूर्ति के लिए उसने शिवा को देशभक्ति की प्रेरणा दी है। ज़ेबुन्निसा भी वियोग-परितप्ता है।[१०] वह शिवाजी को सच्चे दिल से प्रेम करती है, किन्तु उसका प्रेम एकांगी है। इसमें शिवाजी का कोई योग नहीं। अपनी एकांगिता के कारण यह प्रेम भी रस-दशा को प्राप्त न कर भाव कोटि का ही रह गया है। हरिकृष्ण प्रेमी ने ज़ेबुन्निसा-प्रसंग को जो अनावश्यक विस्तार दिया है, शास्त्रीय दृष्टि से वह 'अंगभूत रस की अतिवृद्धि' है, रस-दोष है। संयोग श्रृंगार के एक-दो स्थल भी इस नाटक में हैं पर उनके रस-परिपाक की ओर भी नाटककार ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। शिवाजी और सईबाई का मिलन अन्ततः करुण में परिणत हो गया है[११] और शाहजी

---

१. शिवा-साधना, पृ० ३०
२. वही, पृ० ३१
३. वही, पृ० ८०-८२
४. वही, पृ० १०६
५. वही, पृ० ११०
६. वही, पृ० ६६-७३
७. वही, पृ० ६८-६६
८. वही, पृ० १४३-४५
९. वही, पृ० २२-२३
१०. वही, पृ० ११२-१३, ११४-१५, १२८-३६
११. वही, पृ० ५०-५१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

और जीजाबाई का क्षणिक संयत मिलन भाव-दशा से आगे नहीं बढ़ पाया है।[1] स्पष्टतः 'शिवा-साधना' में शृंगार की जो अभिव्यक्ति है वह भाव-ध्वनि से ऊपर नहीं उठ पायी है।

रति के अतिरिक्त विस्मय, भय, जुगुप्सा आदि की योजना भी 'शिवा-साधना' में है। कल्याण के शासक मौलाना अहमद की पुत्र-वधू के रूप-सौन्दर्य को देखकर शिवाजी के सारे दरबारी 'विस्मय-विमुग्ध' हैं तो उपस्थित युवती स्वयं भीत और कंपित है।[2] नराधम अफज़ल का अपनी बेगमों को जल में डुबो कर मारने के लिए घसीट ले जाना पाठकों-दर्शकों की जुगुप्सा और अमर्ष उद्बुद्ध करता है।[3] विस्मय-भाव की व्यंजना वहाँ भी है जहाँ रामदास के कहने पर शिवाजी पत्थर तोड़ते हैं और मेंढक निकलता है।[4] यों, इस नाटक में नाटकीय तनाव को कम करने के लिए कहीं-कहीं हास्य की भी योजना है। मसीद खाँ और तारासिंह के संवाद तो इसका अच्छा उदाहरण हैं ही,[5] शिवाजी के साथ हीरोजी फरजंद के वार्तालाप भी[6] एक सीमा तक हास्य-सृष्टि में सहायक हैं। फज़ल के एक-दो संवादों में हास्य के साथ व्यंग्य का भी पुट है।[7] शिवाजी और जीजाबाई के पारस्परिक प्रेम-व्यवहार में वात्सल्यानुभूति है तो वीरों की मृत्यु पर यत्र-तत्र बहाए गये आँसुओं से कारुण्याभिव्यक्ति। इस प्रकार 'शिवा-साधना' में यथावसर अनेक रस-भावों की योजना है और ये रस-भाव अंग-रूप में अंगी देशभक्ति रस को परिपुष्ट करने के उद्देश्य से ही नियोजित किये गये हैं।

'शिवा-साधना' में आए पात्र यों तो वर्ग-पात्र ही हैं किन्तु शिवाजी का व्यक्तित्व यहाँ कुछ भिन्न है। वस्तुतः शिवाजी यहाँ देशभक्ति और राष्ट्रीय-चेतना का मूर्तिमन्त रूप होने से वर्ग-पात्र की सीमा-रेखा का उल्लंघन कर प्रतीक-पात्र हो गये हैं और 'शिवा-साधना' स्वाधीनता-संग्राम का प्रतीक नाटक। इस नाटक की भाषिक संरचना भी देशभक्ति रस के अनुकूल है। पात्रों के संलाप तो ओजस्विनी भाषा में हैं ही, उद्बोधन गीतों के द्वारा भी इस लक्ष्य की सिद्धि की गयी है। हरिकृष्ण प्रेमी की भाषा की इसी शक्ति के कारण (जो उनके नाटकों की सीमा भी है) डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने सम्भवतः इनके नाटकों को 'भाषा-रंगमंच' से जोड़ा है।[8]

प्रेमीजी रंगमंच के प्रति सजग थे, यह उनके नाटकों की भूमिकाओं से स्पष्ट है। डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार 'वे साहित्य और रंगमंच का संयोग स्थापित करने में

---

१. शिवा-साधना, पृ० ७६
२. वही, पृ० ३०
३. वही, पृ० ५६
४. वही, पृ० ६४
५. वही, पृ० १००-१०५
६. वही, पृ० ११६
७. वही, पृ० ५४
८. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, पृ० ४६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कुछ हद तक अवश्य सफल हुए हैं।[1] डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने भी प्रेमी जी के सम-सामयिक सेठजी की तुलना में उनके नाटकों को नाटक की मूल प्रकृति के अधिक निकट माना है: 'प्रेमी का नाट्य सेठजी की अपेक्षा नाटक की प्रकृति के करीब है। इनमें नाट्य पर उल्लेखनीय आग्रह है, साथ ही अपने कथ्य की प्रामाणिकता पर'[2] भी। अपनी कतिपय सीमाओं के बावजूद प्रेमी के नाटक अभिनेय हैं। पाँच अंकों और चौंतीस दृश्यों में लिखित 'शिवा-साधना' में पात्रों की संख्या काफ़ी बड़ी है और नाटक की इस सीमा से नाटककार स्वयं भी परिचित है किन्तु उसका विश्वास है कि 'इससे नाटक के गठन में कोई शिथिलता नहीं आई, क्योंकि अनेक पात्र ऐसे हैं जो एक-एक या दो-दो दृश्यों में आते हैं, मुख्य पात्र तो शिवाजी, जीजाबाई, रामदास और औरंगज़ेब ही हैं, जिनका अस्तित्व पहले अंक से अन्तिम अंक तक बना रहता है। इन्हीं पात्रों के कारण नाटक के दृश्य अन्त तक एक सूत्र में बँधे हुए हैं।'[3] प्रेमीजी की इस सफाई के बावजूद इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'शिवा-साधना' की पात्र और दृश्य-संख्या काफ़ी बड़ी है और इसमें कुछ दृश्य और पात्र अनावश्यक भी हैं। नाटक के अभिनय और प्रभाव-सृष्टि के लिए निर्देशक को इसमें पर्याप्त काट-छाँट करनी पड़ेगी, इसमें सन्देह नहीं। अभिनीत नाटक का जो प्रभाव प्रेक्षक की चेतना पर पड़ेगा, वह देशभक्ति रस का ही होगा, किन्तु यह एक अलग बात है कि नाटककार की स्थूल-नैतिक दृष्टि से परिचालित होने के कारण वह अपेक्षित भावसघनता-सम्पन्न न हो।

जय-पराजय : उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का पहला पूर्णकालिक नाटक 'जय-पराजय' (सन् १९३७) परम्परित शैली में लिखा होने पर भी अपनी यथार्थवादी रंगमंचीय चेतना के कारण महत्त्वपूर्ण है।[4] डॉ० नगेन्द्र ने भी इसे राष्ट्रीय-नैतिक वर्ग के नाटकों में श्रेष्ठ माना है।[5] पाँच अंकों में विभाजित इस ऐतिहासिक नाटक की कथावस्तु विस्तृत और बिखरी हुई है तथा इसमें अन्विितियों का ध्यान नहीं रखा गया है। इस नाटक का उद्देश्य राजपूतों, विशेषकर सिसौदियों की आन-बान, शूरवीरता, शरणागत-रक्षा, प्रण-पालकता, देश-भक्ति, हठ-धर्मिता आदि को दिखाना है। राजपूतों के गुण-दोष इसमें अपने ज्वलन्त रूप में विद्यमान हैं। तत्कालीन सामन्तीय आभिजात्यवादी मनोवृत्ति, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, अविश्वास, सत्ता-प्राप्ति के लिए किये गये षड्यन्त्र, छल-छद्म और क्रूरताएँ-जघन्यताएँ आदि भी इस नाटक को देख-पढ़ कर सामाजिकों के सामने साकार हो जाती हैं।

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० २४
२. आधुनिक हिन्दी नाटक, और रंगमंच, पृ० ६०
३. शिवा-साधना, अपनी बात, पृ० ११
४. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य (नेमिचन्द्र जैन का 'नाटक' शीर्षक लेख), सं० डॉ० महेन्द्र भटनागर, पृ० ६९
५. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० २७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

नाटक का नायक मेवाड़ का युवराज चण्ड हंसाबाई के साथ विवाह करने से इनकार कर देता है। वह हँसी में कही गयी अपने पिता राणा लक्षसिंह की बात का मान रख कर उन्हीं के साथ हंसाबाई का विवाह करवा देता है और भगवान एकलिंग के सम्मुख यह प्रतिज्ञा करता है कि मेवाड़ के सिंहासन का उत्तराधिकारी वह नहीं, हंसाबाई का पुत्र होगा। पिता द्वारा मंडोवर से निर्वासित हंसाबाई का सौतेला भाई रणमल जो पहले से ही शरणागत के रूप में मेवाड़ में है, हंसाबाई के सहयोग से षड्यंत्र करता है, पर हंसाबाई इससे प्रायः अनभिज्ञ है। अपने पिता रावल चूड़ावत की मृत्यु के बाद वह मंडोवर पर अधिकार कर लेता है। उसकी क्रूरता के फलस्वरूप उसकी छोटी माँ तारा मंडोवर के भावी अधिपति, अपने पंचवर्षीय कुमार कान्हा का गला घोंट देती है और स्वयं भी आत्महत्या कर लेती है। इसके पूर्व रणमल चण्ड को मेवाड़ से निर्वासित कर चुका है और चण्ड का छोटा भाई राघव भी खेलवाड़ा में है। राघव और प्रसिद्ध गायिका भारमली में सच्चा प्रेम है, पर रणमल की कुदृष्टि भारमली पर है, अतः वह राघव को अपने षड्यन्त्र का शिकार बना भारमली को पकड़वा लेता है। अब उसकी निगाह मेवाड़ के सिंहासन पर है। इस बीच हंसा भी रणमल के षड्यंत्रों से परिचित हो चुकी है। वह अपने पुत्र मोकल और आत्मरक्षा के लिए चिन्तित है अतः धाय माँ के कहने से चण्ड को सहायता के लिए बुलाती है। चण्ड अपने सैनिकों के साथ मेवाड़ के उद्धार के लिए आता है और उसके सैनिक राठौरों को मार भगाते हैं। तभी भारमली अपने प्रियतम राघव देव के वध का बदला लेने के लिए शराब के नशे में धुत्त रणमल को मार गिराती है। मेवाड़ का आततायियों से उद्धार हो जाता है किन्तु अपने सौतेले भाई रणमल की मृत्यु के लिए चण्ड की मेवाड़ के राणा बनने की महत्त्वाकांक्षा को उत्तरदायी ठहराती हुई हंसा उसे अपमानित कर देती है और स्वाभिमानी चण्ड पुनः मेवाड़ छोड़कर चला जाता है।

वीर रस 'जय-पराजय' का अंगी है और श्रृंगार, करुण, वत्सल, प्रेयान्, बीभत्स आदि अंग। नाटक के धीरोदात्त नायक चण्ड में तो वीरोचित शौर्य है ही, राघवदेव, राणा लक्षसिंह और सामान्य सैनिकों में भी उसका अभाव नहीं। देश, जाति, धर्म, स्वामी और स्वाभिमान की रक्षा के लिए जैसे सभी मर मिटने को तैयार हैं। सभी में आद्यन्त उत्साह है और वे जान हथेली पर लिए घूमते हैं। युद्ध वीर के साथ दयावीर, दानवीर और धर्मवीर नामक भेदों की भी इस नाटक में सुन्दर योजना है। मंत्री, झोटिंग भट्ट और घनेश्वर राय द्वारा बार-बार अनिष्ट की आशंका व्यक्त किये जाने और सावधान करने पर भी शत्रु पक्ष के शरणागत रणमल को मेवाड़ से जाने के लिए कहना कुमार राघवदेव, युवराज चण्ड या राणा लक्षसिंह को सह्य नहीं—वे दयावीरता का परिचय देते हुए क्षत्रिय धर्म का निर्वाह करते हैं। युवराज तो अपने पिता लक्षसिंह और प्रधान मंत्री से यहाँ तक कह देते हैं—

> जो मैंने कल कहा था, वह आज भी कहता हूँ। पिताजी ! हम राजपूत हैं; राजपूतों में श्रेष्ठ हैं; मेवाड़ जैसे राज्य के अधिपति हैं,

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

यदि हम आश्रितों को आश्रय न देंगे तो और कौन देगा ?[१]

× ... ...

अनिष्ट की आशंक करते हैं यही न ! मैं कहता हूँ अनिष्ट की आशंका न हो, बल्कि निश्चय हो तो क्या राजपूत अपनी मर्यादा को छोड़ देंगे ? क्या अपनी पराजय को सामने देखकर वे युद्ध से पीठ मोड़ लेंगे ? यह जीवन तो एक संघर्ष है मन्त्रिवर ! अपने कर्त्तव्य के अनुसार युद्ध करने वाला यदि हार भी जाय तो जीत उसी की है और कर्त्तव्य के पथ से विचलित होकर जीत जाने वाला भी पराजित है, हारा हुआ है ।[२]

राणा लक्ष्सिंह के हंसा के साथ विवाह के अवसर पर, उसकी दानवीरता का परिचय नाटक के तृतीय अंक में दो ब्राह्मणों के वार्तालाप में मिलता है—

पहला—चलो जी ! दान तो खूब मिला ।
दूसरा—हाँ ! दान तो खूब मिला ।[३]

वे दानवीर और युद्धवीर तो हैं ही, धर्मवीर भी हैं । गया के यात्रियों पर यवनों के बढ़ते अत्याचारों का प्रतिकार करने के लिए वृद्धावस्था में भी वे युद्ध के लिए सन्नद्ध हैं । वे चण्ड से कहते हैं—'चंद्र, वत्स, मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी । अब मैं चैन से जा सकूंगा और अपनी समस्त जाती हुई शक्तियों को इकट्ठा करके रण में कूद पड़ूंगा । मुझे अब कोई चिन्ता नहीं । गया के निरीह और निर्बोध यात्रियों पर यवनों के अत्याचार बढ़ रहे हैं । मैं इस अत्याचार को सहन नहीं कर सकता । मैं उस पवित्र भूमि को आततायियों से पाक कर दूंगा और इस अन्तिम कर्त्तव्य से छुट्टी पा जाऊँगा ।[३] गया पर राणा लक्ष्सिंह का यह आक्रमण न तो राज्य-विस्तार के लिए है और न राज्य-रक्षा के लिए ही । वे यह आक्रमण धर्म-रक्षा और प्रजा की सुविधा के विचार से कर रहे हैं । इसके पूर्व वे प्रधानमंत्री को साम-दाम से इस समस्या को सुलझाने का आदेश दे चुके हैं[५] पर जब ये उपाय कारागर न हुए तो दण्ड (आक्रमण) के अलावा और कोई चारा नहीं रहा । राणा लक्ष्सिंह के उक्त कथन में जो उत्साह है वह नीतिज है । यवनों के बढ़ते अत्याचारों से वह उद्दीपित हुआ है । उनके उक्त संलाप में शौर्य, त्याग, स्थैर्य, धैर्य आदि अनुभाव हैं और स्मृति, मति, गर्व, अमर्ष आदि व्यभिचारी भाव । इन विभावादिकों के योग से उत्साह स्थायी धर्मवीर में निष्पन्न हो गया है । धर्मवीरता का परिपाक राघव देव और युवराज चण्ड में भी हुआ है । राघव देवजन-सेवा का व्रत

---

१. जय-पराजय, पृ० २२-२३
२. वही, पृ० २३
३. वही, पृ० ८४
४. वही, पृ० १२८
५. देखिए—वही, पृ० ३८-३६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

लेकर इस कार्य को सोत्साह करता है। इसी व्रत की सफलता के लिए वह मेवाड़ छोड़ कर खेलवाड़ा आ जाता है और इसी की निर्विघ्न पूर्ति के लिए अपनी प्रेमिका भारमली को बार-बार अपने से दूर रहने को कहता है। इस कार्य में न विवेक उसका साथ छोड़ता है और न किसी आकर्षण के वशीभूत हो उसका उत्साह ही कम होता है। इसी प्रकार चण्ड भी प्राण-पण से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है—हंसा का संदेश पाते ही वह मेवाड़ रक्षा के लिए दौड़ा आता है। धर्म-रक्षा का यह उत्साह स्वामि-भक्त के रूप में प्रधान मन्त्री, झोटिंग भट्ट, घनेश्वर राय, हरिसिंह आदि में भी लक्षित होता है। अपने कर्त्तव्य का, सेवक के रूप में अपने धर्म का पालन वे प्राण रहते करना चाहते हैं। युद्धवीरता भी न केवल राणा लक्षसिंह, युवराज चण्ड या कुमार राघव देव में ही है वरन् खलनायक रणमल व अन्य सैनिकों में भी है। शराब के नशे में धुत्त, घायल रणमल का नायक के हाथ से तलवार छीन कुछ सैनिकों को मार गिराना सामाजिक को विस्मय-विमुग्ध करता है। कोमलांगी भारमली का रणमल जैसे दुर्दमनीय योद्धा को बाँधना, घायल करना और फिर भागते हुए को अपने छुरे के निशाने से मार गिराना तो और भी विस्मयकारक है। उस वीरांगना की वीरता और अपने प्रिय राघव देव की हत्या के प्रतिशोध का उत्साह निश्चय ही सराहनीय है। मोकल की रक्षा में यही उत्साह धाय माँ में, एक विभिन्न कोण से, दिखलाई देता है। किन्तु इन सबसे बढ़ कर, बालक मोकल की अपने मामा रणमल से कही गई वीरोक्तियाँ हैं जिन्हें सुन कर प्रेक्षक दंग रह जाता है—

मोकल – नहीं, मैं तुम्हारे पास नहीं आता।
रणमल—तो मैं मुकुट न दूँगा।
मोकल—मैं तुमसे लड़ूँगा।
रणमल—(मुसकराता हुआ) कैसे लड़ोगे ?
मोकल—तलवार से लड़ूँगा, सेना से लड़ूँगा, मेरा मुकुट दे दो।[1]

स्पष्टत: 'जय-पराजय' एक ऐसा वीररसात्मक नाटक है कि जिसमें आबाल-वनिता-वृद्ध सभी इस रस से स्नात हैं, अत: इस नाटक को देखने, पढ़ने या सुनने से सामाजिक का उत्साह स्थायी भाव विभावादि से परिपुष्ट होकर वीर रस में परिणत हो जाता है और नाटकीय पात्रों के साथ वह भी रससिक्त हुए बिना नहीं रहता।

अंगी वीर के साथ अंग-रूप में 'जय-पराजय' में शृंगार रस का विधान है। कुमार राघव देव और भारमली का प्रथम दृष्टि में ही प्रेम हो जाता है। भारमली जैसे ही मंच पर आती है, कुमार उसकी ओर कुछ क्षण देखते हैं, फिर आँखें नीची कर लेते हैं, मुख पर लाली दौड़ जाती है।'[2] वे बीच-बीच में भी उसकी ओर देखते और मुसकराते हैं। भारमली भी गाते समय कुमार को देखती है और जब वे जाते हैं तो

१. जय-पराजय, पृ० १६६
२. वही, पृ० ७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उनकी ओर देखती रहती है। उसका गीत—मानस के परदों पर छाओ[1]—भी उसकी प्रेमिल मनोदशा को व्यक्त करता है। स्पष्टतः यह संयोग शृंगार का चित्र है। राघव और भारमली का रति भाव पारस्परिक दर्शन से उद्‌बुद्ध होकर सौन्दर्य-गुणादि के द्वारा उद्दीप्त, भ्रू-निक्षेप, कटाक्ष संचार, मुख-लालिमा, मुसकान आदि अनुभावों के द्वारा परिव्यक्त तथा व्रीडा, हर्ष, आवेग आदि संचारियों के द्वारा परिपुष्टि को प्राप्त कर शृंगार रस में परिणत हो गया है। उनका यह प्रेम कालान्तर में प्रगाढ़ होता गया, प्रकर्ष को प्राप्त करता गया। वे एक-दूसरे से मिलते रहे, छिप-छिप कर मिलते रहे और विवाह न होने पर भी एक-दूसरे के हृदय में बस गये। जब चण्ड को, रणमल के षड्यन्त्र से; इस प्रेम का पता चला और राघव को खेलवाड़ी का जागीरदार बनाकर वहाँ भेज दिया गया तो भी भारमली रुकी नहीं। वह वहाँ भी, राघव के बार-बार मना करने पर भी, प्रेम के वशीभूत होकर उससे मिलती रही और रणमल के षड्यन्त्रों से उसे सावधान करने का प्रयत्न भी करती रही। राघव के प्रति उसकी चिन्ता, उसके अनिष्ट की आशंका, स्वप्न आदि संचारियों की नाटककार ने सुन्दर योजना की है।[2] राघवदेव के मन में भारमली के प्रति जो कमजोरी है, उसे वह इन शब्दों में स्वीकार करता है—'मैं डरता हूँ, मैं बह जाऊँगा, मैं भाई जैसा नहीं, मैं पत्थर नहीं, चट्टान नहीं भारमली! तुम जाओ, खेलवाड़ा से चली जाओ, मेवाड़ से चली जाओ, दूर—बहुत दूर चली जाओ। तुम नहीं जानतीं, तुम्हें देखकर मुझे क्या होने लगता है। मैं अपने आपको भूल जाता हूँ, अपने कर्त्तव्य को भूल जाता हूँ, मैं कुछ कर नहीं पाता, मैं सोचता रहता हूँ।[3] और अन्ततः जब राघवदेव की हत्या कर दी जाती है तो भारमली कूटनीति से रणमल से उसका प्रतिशोध लेती है और मरते समय चण्ड से यही कामना करती है, 'मुझे खेलवाड़ा में ले जाकर जलाना।'[1] यह उसके प्रेम की पराकाष्ठा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'जय-पराजय' में 'अश्क' ने राघव-भारमली के सात्विक प्रेम को शृंगार की रस-दशा तक पहुँचाया है। यों, रणमल के मन में भी भारमली के प्रति आसक्ति है और वह उसे पाने का उचित-अनुचित प्रयत्न भी करता है, पर उसका एकांगी-प्रेम रस-दशा को नहीं पहुँच पाता।

अंग-रूप में शृंगार की योजना का प्रयत्न लक्षसिंह और हंसा के संलापों में भी हैं पर वृद्ध के कन्यावत् युवती से ये संलाप रसभंग का कारण बनते हैं। हंसाबाई के मन में युवराज चण्ड के प्रति पूर्वराग है पर उसका विवाह युवराज के वृद्ध पिता से हो जाता है। हंसाबाई इस विचार से ही काँप उठती है कि 'अब युवराज मुझे माँ कहेंगे।'[4] पर धीरे-धीरे वह स्वयं को परिस्थिति से समायोजित कर लेती है। राजा लक्षसिंह उसे प्रसन्न करने के लिए उसकी हर इच्छा का समादर करते हैं, उसके शील, स्वभाव आदि

---

१. जय-पराजय, पृ० ८
२. वही, पृ० १७९-८२
३. वही, पृ० १३४
४. वही, पृ० ८९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की प्रशंसा करते हैं और यहाँ तक कि अपनी बड़ी रानी को भी भूल जाते हैं। यहीं नाटककार ने सौतिया डाह और बड़ी रानी के वियोग शृंगार[1] की भी अभिव्यक्ति की है।

शृंगार के अतिरिक्त करुण, वत्सल, प्रेयान्, बीभत्स आदि रसों का भी 'जय-पराजय' में अंग-रूप में विधान है। राणा लक्षसिंह, राघवदेव, भारमली आदि के मृत्यु प्रसंग तो कारुणिक हैं ही, सर्वाधिक कारुणिक है रानी तारा का अपने कुमार का वध कर देने के उपरान्त आत्महत्या कर लेना। हाथों में बच्चे का शव लिए उन्मादिनी की भाँति जब रानी प्रवेश करती है और रणमल से अधोलिखित संवाद बोलती है तो करुण, बीभत्स की शबलता के साथ, अपनी पराकाष्ठा का स्पर्श करता है—

> लो यह है कुँवर ! तुम्हारे हाथों इसे मरता देखने के बदले मैंने स्वयं इसे चिर-निद्रा में सुला दिया है। तुमने भागने के सब द्वार बन्द कर दिए। तुमने चाहा हमें बन्दी बनाओगे, ज़लील करोगे। तुम्हारी यह कामना पूरी न होगी। मैंने अपने हृदय के टुकड़े को अपने हाथों मसल डाला, अपनी आँखों की ज्योति को अपने हाथों नष्ट कर दिया, अपने घर के उजाले को स्वयं अन्धकार में परिणत कर दिया ...आज मैं माँ होकर भी डायन हो गई। देखो इसकी यह मुरझाई हुई सूरत, इसकी यह फटी-फटी आँखें, यह तुतलाने वाली बाहर को निकली हुई जिह्वा, यह निष्पन्द और निष्प्राण देह। मैंने इसका गला घोंट दिया। तुम जैसे पिशाच के हाथों देने के बदले मैंने पिशाचिनी होना स्वीकार कर लिया। मेरा पुत्र बन्दी होता, दास बनता, अपमान की आग में जलता। न, मुझे यह स्वीकार न था। यह मर गया, कुँवर होता हुआ मर गया, राणा होता हुआ मर गया, कुछ क्षण के लिए इसके प्राणों का मोह मेरे हृदय में डर उठा था; मेरे दिल में भय का संचार हुआ था; मैं भागने को तैयार हो गई थी। किन्तु अब क्या डर है ? मैं स्वयं कुछ क्षण की मेहमान हूँ। मैंने हीरे की कणी चाट ली है। विष मेरी नस-नस में दौड़ रहा है। इतनी दूर सेना लेकर एक निरीह, निर्बोध बालक को बाँधने चढ़ दौड़े थे, लो बाँध लो ! बन्दी बना लो !!
>
> (बच्चे को उसके पाँवों पर पटक देती है।
> और स्वयं अचेत होकर गिर पड़ती है।
> सब स्तम्भित, अवाक्, स्तब्ध देखते रह जाते हैं।[2])

इस दृश्य को देखकर कौन सहृदय होगा जो करुण रस का अनुभव न करेगा ? इस करुण के लिए उत्तरदायी हैं रणमल के रौद्रकर्म। माँ द्वारा स्वयं अपने बच्चे का

---

१. जय-पराजय, पृ० ६४-६५
२. वही, पृ० १५७-५८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

गला घोंटना जुगुप्सित है, अतः करुण के साथ वीभत्स की शबलता भी है। शोकस्थायि-भाव प्रभव इस करुण के विभाव विभवनाश, वध, आत्महत्या आदि हैं। इसके अनुभाव हैं प्रलाप, वैवर्ण्य आदि और अनुभाव हैं ग्लानि, मोह, उन्माद, मरण, भय, विषाद, स्वर-भेद आदि। इन विभावानुभावादि से पुष्ट होकर शोक स्थायी करुण में परिणत हो गया है।

रणमल के जुगुप्सित षड्यन्त्र और कुचक्र सामाजिक के हृदय में जिस वितृष्णा को पैदा करते हैं उससे उसे वीभत्स की और उसके तथा उसके सहायकों के रौद्र कर्मों से रौद्र रस की अनुभूति होती है।

ब्राह्मण द्वारा नारियल के लाए जाने की सूचना पर लक्षसिंह का मूँछों पर ताव देते हुए मुस्करा कर यह कहना कि 'युवराज के लिए होगा, हम बूढ़ों के लिए नारियल कौन लाएगा।'[1], हास्य की सृष्टि करता है। वृद्ध की तरुणी विषयक लालसा लौल्य है जो हास्य का कारण है। ब्राह्मण के नारियल के साथ उपस्थित होने पर राणा लक्षसिंह का पुनः उन्हीं शब्दों को दोहराना[2] तो अट्टहास की सृष्टि करता है। यह प्रसंग आत्मस्थ और परस्थ—हास्य के इन दोनों ही भेदों से जुड़ा है। अपनी बात पर राणा का स्वयं मुसकराना आत्मस्थ हास्य है और सभी का हंसना परस्थ। वृद्ध राणा का युवती हंसा से विवाह और तदुपरान्त प्रेमालाप भी दर्शकों में हास्य-सृष्टि करता है। नाटक का समग्र प्रभाव वृद्ध-विवाह पर व्यंग्य करता है। हास्य के इन भेदोपभेदों की योजना भी नाटक में अंग-रूप में की गई है। हास्य की इस योजना के पीछे नाटककार का लक्ष्य नाटकीय तनाव को कम करना है।

'जय-पराजय' में यत्र-तत्र वत्सल रस की भी अंग रूप में योजना है। महाराणा लक्षसिंह और रानी के संलापों में इसकी सुन्दर व्यंजना है। महाराणा के हृदय में स्थित वात्सल्य स्थायी अपने कुमारों के गुणों और शौर्यादि कर्मों से उद्दीपित होता है और वे अपनी रानी से उनकी प्रबन्ध-कुशलता, सूझ-बूझ, लोक हितकारी भावना, शूरवीरता आदि की प्रशंसा करते हैं। वाचिक अनुभावों के अन्तर्गत राणा की वात्सल्यानुप्रेरित हर्षपूर्ण उक्तियों और संचारी भावों में हर्ष, गर्व, श्रद्धा, आवेग, स्मृति आदि का परिगणन किया जा सकता है। वे अपनी रानी से कहते हैं, : 'नहीं रानी, प्रेम तो अपनी सन्तान से सभी को होता है। मुझे तो उनसे प्रेम ही नहीं वरन् उन पर श्रद्धा भी है। मुझे उन पर गर्व है। उनको देखकर प्रसन्नता से मेरी छाती फूल उठती है।[3] स्पष्टतः यहाँ वात्सल्य भाव उक्त विभावादिकों से परिपुष्ट होकर वत्सल रस में निष्पन्न हो गया है। सुकेशी और रानी के पारस्परिक संलापों[4] तथा बालकों के साथ

१. जय-पराजय, पृ० ३९
२. वही, पृ० ४०
३. वही, पृ० २०
४. देखिए, वही, पृ० ९२-९६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मोकल की क्रीड़ाओं[1] में भी सामाजिकों को वात्सल्यानुभूति होती है।

उपर्युक्त रसों के अतिरिक्त प्रेयान् का भी 'जय-पराजय' में सुन्दर विधान है। इसकी योजना भी इस नाटक में अंग-रूप में की गयी है। हंसाबाई के अपनी सखियों के साथ खेलने, गाने और मौज-मस्ती मनाने में इसी रस की पुष्टि हुई है। हंसा का विवाह युवराज चण्ड से तय करने के लिए ब्राह्मण नारियल लेकर चित्तौड़ गया है। इस समाचार से हंसा अत्यधिक प्रसन्न है। हंसाबाई और उसकी सखियाँ खेल-गा रही हैं, साथ ही सखियाँ हंसा से चुहलबाजी भी कर रही हैं।[2] इस स्थल पर हंसा और सखियों का पारस्परिक स्नेह हंसा के भावी विवाह-सम्बन्ध के समाचार से उद्दीपित और मोह, चापल्य, हर्ष, आवेग, गर्व आदि संचारियों-अनुभावों से परिपुष्ट और परिव्यक्त होकर प्रेयान् रस में परिणत हो गया है। मालती के इस समाचार से कि अब हंसा का विवाह युवराज चण्ड से नहीं, बूढ़े लाखा राणा से होगा[3], सब सखियों में विस्मय, चिन्ता, शंका आदि का संचार हो जाता है और हंसा में जड़ता और मूर्च्छा का। हर्ष और विरति में सखियों के पारस्परिक विश्वास में स्नेह को प्रगाढ़ता मिली है और इन संदर्भों से परिपुष्टि को प्राप्त कर वह प्रेयान् में परिव्यक्त हुआ है।

हंसा का रणमल के प्रति जो असीम स्नेह है, वह एकांगी है। रणमल के हृदय में उसके प्रति स्नेह नहीं—वह तो उसे अपने षड्यन्त्र का मुहरा मात्र बनाता है। हंसा उसे अपने सगे भाई से भी बढ़कर मानती है। इसी स्नेह के कारण वह राणा से कह कर उसे सेनापति बनवाती है, उसी के कहने पर चण्ड को मेवाड़ से निर्वासित कर देती है और यह जानते हुए भी कि वह उसकी मां और भाई की मृत्यु का जिम्मेदार है, उसके मरने पर आँसू बहाती है। शोक की उसी उद्विग्नता में वह अपने रक्षक चण्ड को पुनः मेवाड़-त्याग के लिए विवश कर देती है, पर अपने भ्रातृ प्रेम पर आँच नहीं आने देती। रणमल के शव को देखकर रोते हुए वह कहती है : 'तुम मेरे भाई थे, शत्रु ही सही, मेरे बच्चे से द्वेष रखने वाले ही सही, मेरी मां और भाई के घातक ही सही, फिर भी मेरे भाई थे, मेरे साथ बचपन में खेले थे, मेरे पितृ-कुल के अन्तिम दीप थे। तुमने कभी न जाना, तुम्हारी इस सौतली बहिन के हृदय में तुम्हारे लिये कितना स्नेह है, कितनी मुहब्बत है, उसका हृदय किस तरह फटा पड़ता है।'[4] उसका यह रुदन किसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता—यह उसके अपने दुष्ट सौतेले भाई रणमल के प्रति असीम स्नेह का प्रत्यक्ष प्रमाण है। किन्तु इतना होने पर भी, उसका यह एकांगी प्रेम भाव-दशा से आगे नहीं बढ़ पाता।

स्नेह के समान, 'जय-पराजय' में भक्ति-भाव की भी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई

---

१. जय-पराजय, पृ० १६५

२. वही, पृ० ७०-७३

३. वही, पृ० ७४

४. वही, पृ० २०३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

है। अपनी मातृ-भूमि मेवाड़ के प्रति राघव का भक्ति-भाव अपने चरम पर है।[1] मातृ-भूमि के साथ स्वामि-भक्ति का यही भाव झोटिंग भट्ट और धनेश्वर में भी है।[2] मेवाड़ के भावी अनिष्ट की आशंका से वे चिन्तित हैं और इससे राघवदेव, युवराज और महाराणा को अनेक विधियों से आगाह कराते हैं पर जब इसका कोई लाभ नहीं होता तो झोटिंग भावी अनिष्ट के प्रभाव को कम करने के लिए पहाड़ की एक कन्दरा में भगवान एकलिंग का जाप करता है। भगवान एकलिंग अथवा लकुटीश के प्रति मेवाड़-निवासियों में जो आस्था, विश्वास, श्रद्धा और भक्ति का भाव है, उसकी इस नाटक में अनेकत्र अभिव्यक्ति हुई है।[3]

मनोवैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत प्रतिशोध-भाव का भी 'जय-पराजय' में रसात्मक उपयोग है। रणमल में प्रतिशोध-भाव अत्यन्त प्रखर है। भारमली और हरिसिंह में भी यह स्पष्ट है और हंसा भी प्रत्यक्ष-परोक्ष-रूप से इसी से संचालित है। चण्ड से प्रतिशोध लेने के लिए ही वह उसे अवसर पाते ही अपमानित करती है और मेवाड़ से निर्वासित भी। मेवाड़ के सर्वनाश की बहुत कुछ जिम्मेदारी हंसा के प्रतिशोध-भाव पर है। यों इसके लिए राजपूत नैतिकता, उनकी थोथी आदर्शवादिता और व्यक्तिगत अहं भावना भी कम उत्तरदायी नहीं।

'जय-पराजय' में 'अश्क' की पात्र-सृष्टि राजपूतकालीन मानसिकता के अनुरूप है। चण्ड राजपूती हठधर्मिता की जीती-जागती तस्वीर है तो राणा लक्षसिंह सामन्ती मनोवृत्ति की प्रतिमा। वे वार्धक्य में भी पूँजी की तरह तरुणी का उपभोग करने में अपनी शान समझते हैं। राघवदेव में भी राजपूती आदर्शवादिता है। ये सभी पात्र स्वभावतः वीररसोपयुक्त हैं। भारमली प्रणय की साकार प्रतिमा है तो हंसा भ्रातृ-स्नेह की। यदि भारमली प्रेम का मूल्य आत्म-बलिदान से चुकाती है तो हंसा भ्रातृ-स्नेह का मेवाड़ के विध्वंस से। रति के आलम्बन-रूप में भारमली और स्नेह के आश्रयरूप में हंसा 'जय-पराजय' की उपलब्धि हैं। एक कूटनीतिज्ञ धूर्त के रूप में रणमल का चरित्र भी अविस्मरणीय है। वह खलनायक के सभी गुणों से युक्त है। कहने की आवश्यकता नही कि 'अश्क' ने इस नाटक में वर्ग पात्रों की सृष्टि की है— और उसकी यह सृष्टि बहुत-कुछ परम्परित है। यों, पात्रों के आन्तरिक गुणों का रसात्मक उद्‌घाटन करने में नाटककार सफल हुआ है।

भावों की वाहिका भाषा होती है। भाषा के रसात्मक प्रयोग से कृति का महत्त्व निश्चय ही बढ़ जाता है। 'जय-पराजय' की भाषा भावोद्‌बोधन में समर्थ है, वह भावानुसारिणी है। पात्रों की वीररसात्मक उक्तियों में ओज और स्फीति के दर्शन होते हैं तो प्रेमपरक कथनों में माधुर्य और तरलता के। इस दृष्टि से, प्रमाण-रूप में, राघवदेव के ही दो संलाप यहाँ प्रस्तुत हैं :

---

१. जय-पराजय, पृ० ११६
२. देखिए, वही, पृ० १०-१७, ३५-३६
३. देखिए, वही, पृ० १, २, ५, १६० आदि

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

(क) वीररसात्मक उक्ति

भारमली ! तुम एक राजपूत को डराती हो। उसे मृत्यु से भय दिलाती हो। मृत्यु ही तो उसका प्रधान खेल है। तलवारों की झंकारों में वह इसी से तो खेलता है।[1]

(ख) प्रेमालाप

और ठंडी हवा के झोंके ! ऐसे में तुम्हारा थरथराता हुआ मादक गीत !! भारमली, पागल हो जाता हूँ। अपने आपको भूल जाता हूँ। तुम जादू करती हो ![2]

दोनों कथनों की भाषा में जो अन्तर है, वह किसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता। एक ही व्यक्ति के विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति एक से शब्द-विधान से संभव नहीं— और, इसका अश्क ने ध्यान रखा है।

कथावस्तु में विखराव और शिल्प में शैथिल्य के बावजूद 'जय-पराज़य' में भावोद्‌बोधन की जो क्षमता है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि रस-विधान की दृष्टि से यह एक सफल रचना है।

'छठा बेटा' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

'जय पराजय' और 'स्वंग की झलक' के बाद सन् १६३८-४० में लिखित 'छठा बेटा' श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक नाटक है। इसे आलोचकों ने उनके नाटक और रंगमंच विषयक तकनीकी प्रयोगों की सफलता का प्रमाण तो माना ही है,[3] एक मनोवैज्ञानिक स्वप्न-नाटक के रूप में भी इसके वैशिष्ट्य की सराहना की है।[4] स्वार्थान्धता, मद्यपान, उत्कोच, हिंसा-अहिंसा, शिष्टाचार पर टिकी स्नेहरिक्त सभ्यता की ज्वलन्त युगीन समस्याओं के साथ आर्थिक सम्बन्धों पर टिके रिश्ते-नातों का भी नाटक में सुन्दर चित्रण है, किन्तु इन सबसे बढ़कर इसमें रिटायर्ड वृद्ध व्यक्ति की दीन-हीन और कारुणिक दशा का नाटकीय प्रस्तुतीकरण है। नाटक का आदि और अन्त इसी कारुणिक दशा को दर्शाते हैं, और मध्य भाग की स्वाप्निक घटनाएँ नाटक के अन्त तक आते-आते इस प्रभाव को और भी गहरा जाती हैं।

नाटक का कथानक इतना ही है कि पं० बसन्तलाल जब रेलवे की नौकरी से रिटायर होते हैं तो उनके छह बेटों में से पाँच उन्हें रखने को तैयार नहीं होते और छठा बेटा पहले ही घर से भागा होता है, दयालचन्द का कुछ अता-पता ही नहीं। दूर

---

१. जय-पराजय, पृ० १८२
२. वही, पृ० १०३
३. आधुनिक हिन्दी नाटक, डॉ० नगेन्द्र, पृ० १०३
४. (क) हिन्दी-नाटक : सिद्धान्त और विवेचन, डॉ गिरीश रस्तोगी, पृ० ३१०
(ख) आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० गणेशदत्त गौड़, पृ० ३३६-४:

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

के रिश्ते में पंडित बसन्तलाल का भाई चाननराम जब उनके बेटों—डॉ॰ हंसराज, हरिनाथ (हरेन्द्र), देवनारायण, कैलाशपति और गुरुनारायण को यह समझाने आता है कि वे अपने पिता को सादर अपने पास रखें तो वे सभी अपने पिता के मद्यपी, कठोर और अशिष्ट स्वभाव के कारण उसे अपने पास रखने से इन्कार कर देते हैं। यह बात-चीत डॉ॰ हंसराज के मकान पर हो रही होती है कि इसी बीच उसके पिता जो आटा लेने गये होते हैं, बिना आटा लिये शराब पीकर और लाटरी का एक टिकट लेकर लौटते हैं। वे नशे में जमीन पर गिर पड़ते हैं और चाननराम और डॉ॰ हंसराज उन्हें उठाकर बिस्तर पर लिटा देते हैं। इस प्रारम्भ के बाद, मध्य भाग में नाटककार दिखाता है कि पं॰ बसन्तलाल के नाम तीन लाख की लाटरी निकल आई है और उसके पाँचों पुत्र, रिश्तेदार एवं मित्र उससे यह राशि हथियाने के लिए उसे मस्का लगा रहे हैं। इस भाग में पात्रों की विडम्बित स्थिति, हास्य की भरपूर सामग्री प्रस्तुत करती है। स्वार्थवश डॉ॰ हंसराज, कैलाशपति आदि पं॰ बसन्तलाल को खूब शराब पिलाते हैं, उनकी चिलम भरते हैं और टाँगें दबाते हैं। अन्त में, जब पण्डितजी अपनी सारी धन-राशि लुटा बैठते हैं तो पुनः उनकी वही दुर्दशा होती है। माँ बच्चों से फिर अपने पिता को साथ रखने का अनुरोध करती है पर उसे कोई स्वीकार नहीं करता। इसी बीच, खोया हुआ छठा बेटा—दयालचन्द आकर माँ को आश्वस्त करता है कि वह उन्हें अपने पास रखेगा और उनकी सेवा करेगा। अन्त में, पं॰ बसन्तलाल हड़बड़ा कर उठते हैं और कहते हैं··· 'मेरा छठा बेटा !' यहीं पाठक-दर्शक को यह ज्ञान होता है कि प्रारम्भ के बाद का नाटकीय कार्य-व्यापार वास्तव नहीं, स्वप्न था, भ्रम था—ऐसा भ्रम जो वास्तव बन गया था। यहाँ पं॰ बसन्तलाल स्वप्न से हड़बड़ा कर उठने के बाद जब धरती पर गिरे लाटरी के टिकट को उठाते हैं तो उनकी वस्तुस्थिति का भान होते देर नहीं लगती।

स्पष्टतः, इस यथार्थवादी स्वप्न-नाटक में आज के जीवन की विसंगतियों और अर्थ-तन्त्र के दबाव से बदलते रिश्ते-नातों की कारुणिक अभिव्यक्ति है, किन्तु कारुणिक-ट्रेजिक प्रभाव के तनाव को हल्का करने के लिए बीच-बीच में नाटककार ने हास्य-व्यंग्य का सहारा लिया है। आज सम्बन्धों का नियामक अर्थ है, रुपया-पैसा। अर्थ-हीन, रिटायर्ड, वृद्ध पिता को पाँच पुत्रों में से कोई भी रखने को तैयार नहीं। डॉ॰ हंसराज को अपनी पोजीशन का ख्याल है। वह कहता है : 'मैं डाक्टर हूँ। मेरी पोजी-शन है। मेरे यहाँ बड़े-बड़े पदाधिकारी आते हैं। मैं वेटिंग रूम में तिनका तक तो रहने नहीं देता (खड़े हो जाते हैं।) और ये कीचड़ भरे जूते लिए आ जाते हैं।···मैं नौकर तक को मैले कपड़े पहनकर दुकान में आने की आज्ञा नहीं देता ओर वे टखनों तक ऊँची धोती—वह भी आधी—मैली-सी खुले गले की कमीज पहने; नंगे सिर चले आते हैं और वैसे ही कोच में आकर धँस जाते हैं।'[1] डॉ॰ हँसराज के इस संवाद से

१. आदि मार्ग में संकलित छठा बेटा, पृ॰ १६५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पं० बसन्तलाल की दीन-हीन दशा का पता तो चलता ही है, पीढ़ी-संघर्ष भी उभर कर सामने आ जाता है। वृद्ध और युवा पीढ़ी के बीच जो वैचारिक और स्वभावगत अन्तराल है वह चाननराम और डॉ० हंसराज एवं गुरु के संवादों में उजागर हो उठा है। इस पीढ़ी-संघर्ष को बीच-बीच में हास्य और व्यंग्य के पुट से उभारा गया है :

गुरु : और पिता की गाली सुनकर उसे चुप खड़े रहना चाहिए अथवा ऐसे मुस्कराना चाहिए जैसे उस पर फूल बरस रहे हों।

चाननराम : माता-पिता की गालियाँ तो घी शक्कर सी मीठी होती हैं, जिन्हें ये नहीं मिलीं वह जीवन में एक विभूति से वंचित रह गया है।[1]

हास्य और व्यंग्य की प्रबल धारा पूरे नाटक में सतत् प्रवहमान है। बनिये के घर रात में तीन बच्चों का एक साथ पैदा होना (पृ० १६९), देव का अपने पिता द्वारा गार्ड के सामने बाल पकड़ कर फटकार लगाना (पृ० १७२), हरिनाथ का अपनी कविता को ढूँढना और बाद में उसे अपने ही हाथों में पाना (पृ० १७३-७४), तीन लाख की लाटरी निकलने के बाद पं० बसन्तलाल के अपनी पत्नी से संवाद (पृ० १८२-८३), डॉ० हंसराज के कमला से संवाद और उनकी आपसी नोक-झोंक (पृ० १८५-८६), डॉ० हंसराज और देव के संवाद—ये सभी प्रसंग हास्य और व्यंग्य के उद्दीपक हैं। 'छठा बेटा' में साथ रससिक्तहास्य के मिष्ट व्यंग्य भी है। अश्क हास्य और व्यंग्य को (पृ० २१४), व्यंग्य और हास्य को (पृ० २१८-१९) अनिर्वन्धेन मिला देते हैं। उनका व्यंग्य बड़ा सटीक और रससिक्त तो होता ही है, बड़े सलीके का भी होता है। डॉ० हंसराज जब यह कहता है, 'जिसके हाथों कम से कम सौ आदमी मुक्ति न पा जाएँ, वह सर्जन कैसा !'[2] तो हास्य व्यंग्य में बदल जाता है।

हास्य-सृष्टि में सर्वाधिक सहायक है अश्क की नाटकीय हास्यरसोपयुक्त भाषा। नाटक में भाषा संवादों का जामा पहन कर आती है, अतः अश्क के पैने नाटकीय संवाद इस दिशा में बहुत सहायक हैं। संवादों में प्रायः अतीत जीवन की घटनाओं को स्मृति संचारी के द्वारा सूच्य रूप में इस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि पाठक-प्रेक्षक बिना हँसे नहीं रह पाते। जिन क्रिया-कलापों की सूचना इन हास्योद्दीपक संवादों में रहती है, वे क्रियाएँ यद्यपि दर्शकों के सामने मंच पर प्रस्तुत नहीं की जातीं, तो भी उनका श्रव्य-प्रभाव ऐसा होता है कि पाठक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता है। यह हास्य कभी स्मित होता है तो कभी हसित और कभी अट्टहास (अतिहसित) में बदल जाता है। देव चाननराम से कहता है : 'जब पिताजी बहराम के स्टेशन पर थे, तब मेरा दुर्भाग्य कि एक दिन मैं संध्या की ट्रेन से वहाँ चला गया। रेलवे गार्ड के सामने ही उन्होंने मुझे बालों से पकड़ लिया—'ये हीजड़ों की भाँति बाल क्यों बना रखे हैं तुमने ···'और पुरुषत्व और पुंसत्व पर एक भाषण झाड़ते हुए मेरी जो गत बनायी···'[3]

---

१. आदि मार्ग में सकलित छठा बेटा, पृ० १६७

२. वही, पृ० २१४

३. वही, पृ० १७२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

यहाँ स्मृति संचारी के द्वारा अपने अतीत जीवन की जो घटना देव सुनाता है, उसे सुन कर ही दर्शकों की हँसी फूट पड़ती है और चेहरे पर लालिमा झलकने लगती है। यह हास्य का विहँसित भेद है। अश्क के नाटकों में हास्य के प्रायः सभी प्रकार सुलभ हैं। सूच्य संवादों के अतिरिक्त क्रिया और संवादों के समन्वय से भी अश्क ने 'छठा बेटा' में हास्य-सृष्टि की है। एक दृश्य देखिए—

[हरिनाथ (हरेन्द्र) प्रवेश करते हैं— हाथ में कुछ कागज लिये और फर्श पर इधर-उधर देखते और कुछ ढूँढ़ते हुए। धोती कुर्त्ता और उस पर चादर पहने हैं, बाल तनिक लम्बे हैं और पाँवों में चप्पल हैं।]

हरिनाथ : मैं पूछता हूँ, रात को मैं इधर तो नहीं रख गया।
(तिपाई के नीचे ऊपर देखते हैं।)

चाननराम : क्या ढूँढ़ रहे हो, क्या चीज गुम हो गयी।

हरिनाथ : बड़े परिश्रम से लिखी थी।
(फिर इधर-उधर देखते हैं।)

देव : क्या था भाई?

हरिनाथ : एक कविता थी। देर से मैं लिख रहा था, कितनी अच्छी बन रही थी, मुझे तो याद भी नहीं।

चाननराम : तनिक बैठो कविता फिर लिख लेना।

× × ×

हरिनाथ : मैं कहता हूँ, वह गुम कहाँ हो गयी, वह कविता - छः महीने हो गये मुझे उसकी थीम सोचते।

गुरु : कोई प्रबन्धकाव्य शुरू किया था क्या?

हरिनाथ : नहीं जी, एक फुलस्केप के दोनों ओर लिखी हुई थी।
(हताश सा बरामदे के मध्य खड़ा हो जाता है।)

देव : यह आपके हाथ में क्या है?

हरिनाथ : (चौंक कर खिसियानेपन से) वाह! अरे मैं इस बीच में इसे बराबर हाथ में लिये फिरा हूँ![1]

बगल में कटोरा, नगर में ढिंढोरा वाली उक्ति चरितार्थ होते देख चाननराम, गुरु, देव आदि के साथ प्रेक्षक भी अट्टहास कर उठते हैं। यहाँ संवाद और क्रिया के सम्मिलित योग से हास्य सृष्टि की गयी है और हास्य के साथ व्यंग्य का भी योग हो गया है—कवियों के भुलक्कड़ स्वभाव पर।

पात्रों की मुद्राओं, वेश, आकृति आदि में परिवर्तन द्वारा—विकृत वेश द्वारा भी 'छठा बेटा' में हास्य-सृष्टि की गयी है। पं० बसन्तलाल की जब तीन लाख की

---

१. आदि मार्ग में संकलित छठा बेटा, पृ० १७३-७४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

लाटरी निकल आती है तो उनके बेटे उन्हें प्रसन्न करने के लिए, उनकी रुचि के अनुरूप अपने वेश में परिवर्तन कर लेते हैं :

(और कुछ क्षण बाद कैलाशपति रसोईघर से चिलम हाथ में लिये उसमें फूंकें मारता हुआ आता है।
आश्चर्य, कि उसकी हिंस्र-दृष्टि का कहीं ढूंढ़े से भी पता नहीं चलता और वर्बर सा न दिखायी देकर वह निरीह सा दिखायी देता है, सिर पर उसके लम्बे-लम्बे बाल नहीं और भवों पर वह तनाव नहीं। सिर पर मशीन फिरी है और लगता है जैसे भवों पर भी मशीन फिर गयी है, क्योंकि मस्तक पर एक भी तो सिलवट नहीं। चुपचाप बड़े विनम्र भाव से चिलम लाकर हुक्के पर रख देता है।)[1]

× × ×

(देव प्रवेश करता है—सिर बिल्कुल घुटा हुआ है और चोटी खड़ी है।)[2]

× × ×

(...उनके सामने की कुर्सी पर डॉ० हंसराज बैठे हैं और आकृति उनकी उस कुत्ते की सी बनी हुई है जो स्वामी को खाना खाते देख कर, दुम हिलाता, विनम्र, खुशामदी, लालसा भरी दृष्टि से ताकता हुआ, घुटने टेक कर बैठ जाता है कि तनिक स्वामी का ध्यान हो तो दुम हिलाये। उसमें और इनमें अन्तर मात्र इतना ही है कि इनके दुम नहीं, जिसे ये हिला सकें।)[3]

+ + +

(सिर घुटाए, जाँघिए लगाये, तेल की मालिश से शरीर चमकाये कवि हरेन्द्र और भावी आई० सी० एस० गुरु प्रवेश करते हैं।)[4]

पात्रों का यह वेश-परिवर्तन—अपनी रुचि के विपरीत पिता की प्रसन्नता के लिए है।यह विकृत वेश-विन्यास जहाँ उनकी क्षुद्र स्वार्थी मनोवृत्ति को उजागर करता है, वहाँ हास्य का उद्दीपक कारण भी बनता है। उन्हें अचानक इस परिवर्तित रूप में देख-कर प्रेक्षक की बरवस हँसी फूट पड़ती है। स्वार्थ-सिद्धि के लिए जब अपने पिता के स्वभाव, आदतों आदि का विरोध करने वाले उनके पाँचों पुत्र उन्हीं की रुचियों के अनुकूल स्वयं को सिद्ध करने का प्रयत्न करते दिखायी देते हैं, चिलम भरते हैं, सहर्ष

---

१. आदि मार्ग में संकलित छठा बेटा,
२. वही, पृ० १६७
३. वही, पृ० १६५-६६
४. वही, पृ० २०२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

गाली-गलौच सहते हैं या बारम्बार शराब ढालते हैं, टाँगें दबाते हैं और आदेश की प्रतीक्षा में मुँह जोहते हैं तो उनकी यह परिवर्तित विडम्बित स्थिति सामाजिक के हास्य का कारण बनती है। संक्षेप में, अश्क उन पात्रों की सृष्टि में दक्ष हैं जो हास्य के आलम्बन हैं। उनके क्रिया-कलाप, गतिविधियाँ, संवाद, वेश-विन्यास आदि हास्य के उद्दीपक हैं। दृष्टि-व्याकोश, आकुंचन, मुख लालिमा आदि अनुभाव हैं जो कैलाशपति, देव आदि में दर्शक को देखने को मिलते हैं, साथ ही स्मृति, मति, असूया आदि व्यभिचारी भाव भी। इन सब से सहृदय के हृदय में स्थित हास स्थायी भाव हास्य रस में परिणत हो जाता है।

हास्य की इस प्रबल धारा के साथ 'छठा बेटा' में बीभत्स रस और क्रोध, वात्सल्य आदि भावों का भी अंग रूप में विधान है। मद्यप व्यक्ति के कर्मों के प्रति सामाजिक के मन में जो घृणा जगती है वही विभावादि से परिपुष्ट होकर बीभत्स रस में निष्पन्न हो जाती है। आज केवल रक्त, माँस, मज्जा आदि घृणित पदार्थों से ही नहीं, जुगुप्सात्मक विचारों और कर्मों से भी बीभत्स रस की निष्पत्ति मानी जाती है। रीतिकालीन कवि देव[1] के अतिरिक्त आधुनिक युगीन अनेक रस-चिन्तकों ने बलपूर्वक इस तथ्य का समर्थन किया है कि घृणित विचारों से भी बीभत्स रस का परिपाक संभव है। डॉ० कन्हैयालाल सहल[2], डॉ० कृष्णदेव झारी[3] आदि विद्वानों के एतद्विषयक विचार अवेक्षणीय हैं। 'छठा बेटा' में जुगुप्सा के इस द्वितीय प्रकार को ही रसवत्ता प्रदान की गयी है। शराब की दुर्निवार लत के ही कारण अपने पिता पं० वसन्तलाल को कोई पुत्र अपने पास रखने को तैयार नहीं—सभी उससे घृणा करते हैं, उसके रहन-सहन, व्यवहार और निंद्य कर्मों से घृणा करते हैं और खुल कर इन क्रिया-कलापों का विरोध भी करते हैं। यह बात अलग है कि आगे चलकर स्वार्थवश, धन-लोलुपतावश उनका विद्रोह दब जाता है और अपना उल्लू सीधा करने के लिए वे स्वयं उसी व्यवस्था का शिकार हो जाते हैं। वस्तुतः स्वार्थ एक ऐसा भाव है कि जो विद्रोह का शमन कर देता है। पिता की मद्यप प्रकृति का जुगुप्सात्मक वर्णन करते हुए डॉ० हंसराज अपने चचा चाननराम से कहता है:"'परसों जब वे पिये हुए आये और बाजार ही से उन्होंने अधिक मद्यपता के कारण थरथराती हुई अपनी कर्कश आवाज में पुकारा : "हंसू" ! तब मेरा तो दिल धक-धक कर उठा था। बाहर आकर देखा—बूट के तस्मे खुले हैं, धोती की कोर धरती पर लटक रही है, कमीज का गिरेवान फटा हुआ है

---

१. वस्तु घिनौनी देखि सुनि, घिन उपजै जिय माँहि।
घिन बाढ़ै बीभत्स रस, चित की रुचि मिटि जाँहि।
निंद्य-कर्म करि निंद्य-गति, सुनै कि देखै कोय,
तन संकोच, मन संभ्रमन, द्विविध जुगुप्सा होय। —शब्द-रसायन, चतुर्थ प्रकाश, पृ० ४३-४४

२. देखिए : बीभत्स की सीमा रेखा, (परिचर्चा), तटस्थ (त्रैमासिक), वर्ष ३, अंक ६ (नवम्बर-जनवरी, १६७१-७२)

३. द्रष्टव्य : 'रस-सिद्धान्त तथा घृणा भाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन' शीर्षक ग्रन्थ

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

और पगड़ी बगल में है।[1] अन्यत्र वह अपनी माँ से कहता है : मान लिया उन्होंने मुझे सब कुछ बनाया, परन्तु क्या मैं भी इस सब को उनकी भाँति गँवा दूँ। फटे हाल, तार-तार कपड़े लिये शराबखानों में घूमता फिरूँ, गालियाँ दूँ, गालियाँ खाऊँ, नालियों में गिरता फिरूँ, मक्खियाँ मुझ पर भिनभिनायँ और कुत्ते मेरा मुँह चाटें।[2] इन सूच्य संवादों में मद्यप व्यक्ति वीभत्स रस का आलम्बन है। उसका झूमते-झामते फटेहाल, तार-तार कपड़े लिये आना उद्दीपन है। उसका नालियों में गिरना, उस पर मक्खियों का भिनभिनाना, गाली देना और गाली खाना, कर्कश और थलथलाती आवाज में चिल्लाना, कुत्तों द्वारा मुँह का चाटा जाना आदि अनुभाव और अपस्मार, आवेग, उद्वेग आदि संचारी भाव हैं। (उद्वेग संचारी का चित्रण कैलाश के इस संवाद में भी हुआ है :···लगे माँ से रुपये माँगने। उसने कहा-कि मेरे पास एक भी रुपया नहीं। आप ही कहिए दूसरे के रुपयों को वह कैसे उन्हें दे देती। उठा कर जलती लालटेन इन्होंने उसके दे मारी। मैंने रोका तो तलवार उठा लाये।[3] यहाँ शराबी व्यक्ति की उद्विग्नता और क्रोध का सम्मिलित चित्रण है।) इन विभावादिकों के योग से पुष्ट जुगुप्सा स्थायी भाव ही वीभत्स रस में परिणत हो गया है। इसके अतिरिक्त आज के व्यक्ति की स्वार्थी वृत्ति का जुगुप्सात्मक चित्रण भी इस नाटक में है। शिष्टाचार पर टिकी आधुनिक सभ्यता का वीभत्स और भयावना रूप वसन्त लाल और दीनदयाल के वार्तालाप में उजागर हो उठा है।[4]

मद्यप पं० वसन्तलाल के चरित्र-चित्रण में जहाँ नाटककार ने क्रोध भाव का आधार ग्रहण किया है, वहाँ स्वप्न में दयालचन्द और माँ के छायामिलन में वात्सल्य भाव का समाहार भी किया है। इस वात्सल्यानुभूति से पाठक/प्रेक्षक इतने भाव-विह्वल हो जाते हैं कि उनकी आँखें गीली हुए बिना नहीं रहतीं। दृश्य देखिए—

वही छाया : माँ ! (फिर हवा करती है।)

— : माँ (माँ की छाया सहारे से उठती है और बैठती है।)

वही छाया : माँ

माँ की छाया : तुम कौन हो ?

वही छाया : मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, मैं दयालचन्द हूँ।

माँ की छाया : (गद्गद् होकर) दयालचन्द···मेरा छठा बेटा···(उसे आलिंगन में ले लेती है) कहाँ था तू (आर्द्र स्वर से) देख तेरे भाइयों ने हमें किस तरह दुत्कार दिया है। तेरे पिता दो दिन से सब्जी मंडी में औंधे मुँह बेहोश पड़े हैं।

---

१. आदिमार्ग में संकलित छठा बेटा, पृ० १७०-७१
२. वही, पृ० २२२-२३
३. वही, पृ० १७७
४. वही, पृ० २०४-८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

दयालचन्द : मैं उन्हें वहाँ से जाकर उठाऊँगा, उनकी हर सेवा करूँगा।

माँ : उन्हें तीन लाख रुपया आया था। वे तुम्हें ढूँढना चाहते थे, पर सब रुपया तेरे भाइयों ने लूट लिया। तू क्या करता है, आजकल कहाँ रहता है ?

दयालचन्द : मैं गाड़ियों पर सोडा बर्फ़ बेचता हूँ माँ !

माँ : (अत्यधिक आर्द्र स्वर में) पुत्र !
(उसे और भी जोर से अपने आलिंगन में खींच लेती है और सिसकती है।)[1]

क्रोध और वात्सल्य के साथ एक-दो स्थलों पर रति-भाव की अभिव्यक्ति भी 'छठा बेटा' में हुई है किन्तु यह भाव रस-परिपाक को प्राप्त नहीं कर सका है। 'छठा बेटा' पर टिप्पणी करते हुए डॉ० ज्ञानवती अरोड़ा ने लिखा है; "पं० वसन्तलाल का स्वप्न में तीन लाख की लाटरी जीतना और नींद खुल जाने पर समस्त कथा का समाप्त हो जाना, यही तथ्य हास्य का जनक है।"[2] डॉ० अरोड़ा का यह निष्कर्ष भ्रान्त और तथ्यों के विपरीत है। जैसा कि हम लिख चुके हैं, नाटक का अन्त विषाद, दैन्य और करुणा को गहराता है। यहाँ से, ऐसा लगता है कि जैसे पं० वसन्तलाल के जीवन का फिर त्रासद प्रारंभ हो गया हो। नाटक समाप्ति के बाद जीवन की वास्तविक त्रासदी, जो नाटक के शुरू में थी, शुरू हो जाती है, अतः इस संदर्भ में हम श्री गोपालकृष्ण कौल के इस कथन से सहमत हैं कि 'प्रारम्भ और मध्य में हास्य-व्यंग्य-मय सम्वादों से मनोरंजकता विद्यमान रहती है, किन्तु अन्त में उद्देश्य का चरमोत्कर्ष अत्यन्त वेदनापूर्ण है और इस प्रकार यह नाटक अपनी मनोरंजकता की खूबी के बावजूद एक अतीव करुण और ट्रेजिक स्वर पर खत्म होता है।'[3] स्पष्टतः नाटक की मूल संवेदना एक वृद्ध रिटायर्ड व्यक्ति के जीवन की कारुणिक दशा के उद्‌घाटन में निहित है। यह बात अलग है कि अनंग का विस्तार कर देने से अंगी रस नाटक में उभर कर सामने नहीं आ सका है, वह केवल ध्वनित होकर रह गया है; और अनंग—हास्य अंगी बन बैठा है। यही इस नाटक का दोष है। अनंग के अनुचित विस्तार से अंगी दब गया है। यों, अनंग का विस्तार स्वप्न संचारी के अन्तर्गत हुआ है और विबोध की स्थिति आते ही नाटक की मूल संवेदना—जो कार्पण्य की है—उभर कर पुनः प्रेक्षक के सामने आ जाती है। जहाँ तक हास्य के जनक का प्रश्न है, उस पर भी डॉ० अरोड़ा का निष्कर्ष सुविचारित नहीं। इस नाटक में, एक शब्द में, पात्रों का लौल्य भाव हास्य का कारण है—धन-लोलुपता ने इस नाटक में पात्रों की जो विडम्बित स्थिति की है, वही हास्य की जनक है।

---

१. आदि मार्ग में संकलित छठा बेटा, पृ० २२५
२. हिन्दी साहित्य में प्रहसन, पृ० १६४
३. नाटककार अश्क, पृ० २०३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जहाँ तक नाटक के शिल्प का प्रश्न है, वह मूलतः स्वप्न के मंचीय प्रयोग का है। एक व्यक्ति का स्वप्न ही नाटक के रूप में मंचित हो जाता है और जैसे ही स्वप्न समाप्त होता है, नाटक भी समाप्त हो जाता है। नाटक का प्रमुख पात्र—पं० बसन्तलाल अभावग्रस्त व्यक्ति है। उसके जीवन की अनेक अतृप्त आकांक्षाएँ—स्पृहाएँ—यथा अधिक धन-प्राप्ति से सुखोपभोग, सन्तान-सुख और अपने विछुड़े छठे वेटे दयाल दास से मिलन आदि—स्वप्न में पूरी होती हैं। स्वप्न इस नाटक में कार्पण्य के संचारी रूप में आया है। पं० वसन्तलाल की 'स्पृहा', जिसका उद्दीपक कारण जीवन के अभाव हैं, चिन्ता, मोह, आवेग आदि संचारी भावों से परिपुष्ट होती है और वे स्वप्न संचारी के द्वारा जीवन के तमाम अभावों से मुक्त होते नजर आते हैं। पर, नियति इतनी सहृदय नहीं। विबोध की स्थिति ज्यों ही आती है, पं० वसन्तलाल पुनः जीवन की कठोर कारुणिक भूमि पर खड़े दिखायी देते हैं और यहीं नाटक समाप्त हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'छठा वेटा' का शिल्प भी रस-सिद्धान्त के अनुकूल है। इसकी निर्मिति में बहुत कुछ संचारी भावों—विशेषकर स्वप्न और विबोध का योगदान है।

जैसा कि कुछ आलोचकों ने लिखा है, 'छठा वेटा' मानव की उस आकांक्षा का प्रतीक है जो कभी पूरी नहीं होती।[1] स्वयं अश्क ने भी मनुष्य की कभी पूरी न होने वाली आकांक्षा को ही, इस नाटक की सृजन-भूमि का मूल उत्स माना है।[2] और वस्तुतः इसी पर इस नाटक की मूल चेतना टिकी भी है। आधिभौतिक कार्पण्य[3] इस नाटक का, अनंग का विस्तार कर देने से, अंगी बनते-बनते रह गया है—और जिस रूप में नाटक है, हास्य इसका अंगी है और बीभत्स, भयानक आदि रसों के साथ क्रोध, वात्सल्य, रति आदि भावों का विधान इसके अंग रूप में किया गया प्रतीत होता है। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि गहन कारुणिकता और दैन्य के बावजूद प्रमाता के चित्त पर इस नाटक का समग्र प्रभाव हास्य रस का ही पड़ता है। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस नाटक के पढ़ने या देखने से पाठक या दर्शक को इस रस की समान रूप से अनुभूति होती है। यों हास्य के साथ बीभत्स रस और रति, वात्सल्य आदि भावों की अनुभूति भी प्रेक्षक करता है, जो अस्वाभाविक नहीं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह स्वीकार किया है कि प्रहसन में हास्य के अतिरिक्त शृंगार, रौद्र, बीभत्स आदि की सत्ता भी हो सकती है।[4] और इस दृष्टि से यह एक सफल प्रहसन है।

---

१. (क) डॉ० गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ३३९
   (ख) गोपालकृष्ण कौल : नाटककार अश्क (जगदीशचन्द्र माथुर), पृ० २०३
२. मैं नाटक कैसे लिखता हूं, आदि मार्ग, पृ० २२
३. विस्तार के लिए देखिए—रस-संख्या : काव्यशास्त्रीय विश्लेषण, पृ० १६४-६५
४. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक, पृष्ठ ४१, ४५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

वफ़ाती चाचा : रामनरेश त्रिपाठी

सुप्रसिद्ध कवि रामनरेश त्रिपाठी ने कुछ नाटक भी लिखे हैं। उनके नाटकों में 'वफ़ाती चाचा'[1] (सन् १९३९ ई०) बहु-चर्चित और उल्लेखनीय है। इस में राष्ट्रीयता के एक महत्त्वपूर्ण विधायक तत्त्व की नाटकीय प्रस्तुति है। राष्ट्रीय ऐक्य के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है कि उसमें रहने वाले विविध सम्प्रदायों, जातियों और वर्णों में परस्पर स्नेह, सौमनस्य और सद्भाव हो। ऐक्य का यह प्रश्न मूलतः देश-भक्ति के भाव से जुड़ा है और प्रसादोत्तर स्वातन्त्र्य-पूर्व हिन्दी के अनेक नाटक इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए लिखे गये हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी का 'वफ़ाती चाचा' भी इसी लक्ष्य-हेतु लिखा गया है, पर यहाँ इसकी सिद्धि व्यंजित रूप में हुई है।

लेखक की 'वफ़ाती चाचा' नामक एक सच्ची कहानी के आधार पर उसी के द्वारा लिखित इस नाटक में 'गाँवों के हिन्दू-मुस्लिमानों के उस समय के जीवन का चित्र मिलता है, जब हमारे सामने हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रश्न ही नहीं था। उनका वह जीवन सचमुच आजकल की अपेक्षा सुखी था।'[2] किन्तु जब राजनीतिक कारणों से कुछ राजनेताओं एवं धार्मिक मठाधीशों ने फूट के बीज बोने की चेष्टा की तो यह प्रश्न सिर्फ उठा ही नहीं, साम्प्रदायिक एकता के सक्रिय प्रयत्न भी किये गये।

विवेच्य नाटक में रतन पांडे और वफ़ाती हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-विधायक प्रतिनिधि पात्र हैं। फूट डालने वाले प्रतिनिधि पात्रों में वफ़ाती के बड़े लड़के कासिम का नाम सर्वोपरि है। ऐक्य के इस प्रयत्न में अपने पुत्र कासिम के विरुद्ध खड़ा होकर वफ़ाती एक आदर्श प्रस्तुत करता है। जुलाहा होने पर भी अपने मानवीय गुण-दोषों के कारण वही इस नाटक का नायक है, अतः उसी के नाम पर नाटककार ने इस नाटक का नामकरण किया है। उसी के कंधे से कंधा मिलाकर रतन पांडे भी खड़े हैं। खलनायक के रूप में कासिम की गणना की जा सकती है। नारी पात्रों में जैनब और जयन्ती प्रधान हैं।

---

१. 'वफ़ाती चाचा' का प्रथम संस्करण सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ और इसमें १०८ पृष्ठ थे—यह सूचना 'हिन्दी नाटक कोश' (डॉ० दशरथ ओझा); पृ० ४८३ पर दी गयी है। 'हिन्दी नाटकों की शिल्प-विधि' (डॉ० गिरिजा सिंह) से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है (दे० पृ० ९१,५५२)। मेरे हाथ 'वफाती चाचा' का जो संस्करण लगा, वह नवम्बर, १९५४ का है और इसमें प्रथम संस्करण के प्रकाशन-वर्ष या नाटक के रचना काल की कोई सूचना नहीं दी गयी है। प्रस्तुत संस्करण कौन-सा है, इसका भी उल्लेख नहीं है। यदि सन् १९३९ में 'वफ़ाती चाचा' के प्रथम संस्करण की प्रकाशन-सूचना को सही माना जाय—और डॉ० दशरथ ओझा जैसे अधिकारी नाट्यालोचक के उल्लेख को ठीक न मानने का कोई कारण नहीं—तो यह स्वीकार करना होगा कि यह संस्करण नाटक के प्रथम संस्करण से यत्किंचित् भिन्न है, क्योंकि इसमें स्वातंत्र्योत्तर परिवेश के संकेत हैं, यथा—पं० जवाहरलाल नेहरू का प्रधान-मंत्री होना, पाकिस्तान का अस्तित्व, जनसंघ की चर्चा आदि। यों, नाटक की मूल संवेदना में नाटककार ने कोई अन्तर नहीं आने दिया है।

२. वफ़ाती चाचा, भूमिका, पृ० १

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इनमें से यदि नायिका की गणना करनी हो तो अन्ततः जयन्ती को ही इस नाटक की नायिका मानना होगा।

तद्‌युगीन चेतना के अनुरूप राष्ट्र-प्रेम या देश-भक्ति ही इस नाटक का अंगी है। अंग रसों के रूप में वत्सल, शृंगार, हास्य, वीर आदि रसों की योजना है। नाटक के प्रधान पात्र पारस्परिक प्रेम, ऐक्य और राष्ट्रीय चेतना से तो परिचालित हैं ही, मानवीय गुणों और आदर्शों से भी युक्त हैं। कासिम के साथ कलकत्ते से आया मौलवी जहाँ देश-द्रोह के बीज बोकर मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग करने तथा सांप्रदायिक आग भड़काने का प्रयत्न करता है, वहाँ गाँव का मौलवी उन्हें देश-भक्ति और राष्ट्रीय ऐक्य का संदेश देता है—'हम तो जनमे हैं हिन्दुस्तानी होकर, हमारे बाप-दादे भी यहीं दफ़न हैं; हिन्दुस्तान हमारा मुल्क है और हिन्दू हमारे भाई हैं। हम किसी गैर मुल्क वाले की हुकूमत, चाहे वह मुसलमान ही क्यों न हो, क्यों बर्दाश्त करेंगे ? गैर-गैर ही है।'[1] कथ्य का यह धरातल इस नाटक को निश्चय ही भारत-भू और उस पर बसने वाले जनों से जोड़ कर देश-भक्ति की ओर उन्मुख करता है।

ग्रामीण परिवेश के इस नाटक में आद्यन्त मज़हबी भेद-भाव को भूलकर पारस्परिक स्नेह, विश्वास और भाईचारे के भाव पर दृढ़ आस्था व्यक्त की गयी है तथा यह भाव हिन्दुओं और मुसलमानों—दोनों सम्प्रदायों के मुख से व्यक्त कराया गया है। अपने लड़के प्रताप के मुण्डन संस्कार के अवसर पर रतन पांडे बिना किसी भेद-भाव के सभी को भोज पर आमंत्रित करते हैं तथा उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहते हैं—'मेरे पड़ोसी भाइयो ! आप चाहे हिन्दू हों, चाहे मुसलमान, चाहे अछूत, पड़ोसी होने के नाते सब मेरे भाई हैं।'[2] हिन्दू ही नहीं, सामान्य-से-सामान्य मुसलमान पात्र भी, भेद-भाव को भूलकर, इसी ऐक्य के समर्थक हैं (साम्प्रदायिक दंगे भड़काने वाले तत्त्वों को छोड़कर)। कासिम के साथ आये मौलवी के विचारों का विरोध करते हुए एक वृद्ध मुसलमान कहता है : 'हिन्दू-मुसलमान में मुझे तो कोई फ़रक नहीं मालूम हुआ। चोर को चोर वे भी कहते हैं, हम भी कहते हैं, झूठे को झूठा वे भी कहते हैं, हम भी कहते हैं; सच बोलना, रहम करना, खैरात करना, पड़ोसी की मदद करना, उनके धरम में भी सबाब माना जाता है, हमारे मज़हब में भी। फिर हममें उनमें फ़रक क्या है ? एक ही मिट्टी से हम दोनों पैदा हुए हैं, एक ही हवा में साँस ले रहे हैं, एक ही आसमान के नीचे खड़े हैं, एक ही बोली बोलते हैं, एक ही तरह के जज़बात हमारे दिलों में पैदा होते हैं, फिर हम आपस में लड़ें क्यों ?'[3] एक ही मिट्टी से पैदा होना, एक ही धरती पर रहना, एक ही भाषा बोलना और वक्त-जरूरत पर एक-दूसरे की सहायता करना, उन्हें परस्पर और इस देश से जोड़े रखने के लिए

१. वफ़ाती चाचा, पृ० १०१
२. वही, पृ० ४
३. वही, पृ० ४६-४७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पर्याप्त हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'देश-प्रेम' नामक स्थायी भाव स्वदेश की प्रकृति, भूमि, भाषा, जन के प्रति निजता आदि विभावों, नैपुण्य, धैर्य, स्थैर्य, शौर्य, त्याग आदि अनुभावों और धृति, मति, गर्व, आवेग, अमर्ष, स्मृति आदि संचारी भावों से परिपुष्ट होकर देशभक्ति रस में निष्पन्न हो गया है। नाटक के अधिकतर पात्र साम्प्रदायिक भेद-भाव से ऊपर उठकर मात्र इसी भाव से परिचालित हैं कि हम सब एक ही देश के वासी हैं। रतन पांडे वफ़ाती के पक्ष में न्याय कर सभी हिन्दू-मुसलमानों से कहते हैं—'न्याय को मजहब की छूत से बचाये रखना चाहिए।'[१] उनके मन में हिन्दुओं के प्रति जिस निजता और स्नेह का भाव है, वही पड़ोसी मुसलमानों के प्रति भी है। अपने बेटे प्रताप के मुण्डन-संस्कार के अवसर पर रतन पांडे जो सहभोज देते हैं उसमें वफ़ाती मियाँ के दिखाई न पड़ने पर उन्हें उनका स्मरण हो आता है और प्रताप को नज़ीर का। वफ़ाती मियाँ को खिलाये-पिलाये बिना रतन पांडे भोजन करने को प्रस्तुत नहीं। सहभोज के अवसर पर जब एक मुसलमान उनसे कहता है, 'पंडतजी ! आप भी हम लोगों के साथ बैठ जाइये न ?' तो रतन पांडे हँसते हुए कहते हैं—'कोई हर्ज नही था, लेकिन मेरे सबसे नज़दीक के पड़ोसी तो वफ़ाती मियाँ हैं। अभी तक आये नहीं। उनको खिलाये-पिलाये बिना मैं नहीं बैठूंगा। आप बिस्मिल्लाह कीजिए।'[२] रतन पांडे का यह कथन अपने पड़ोसी मुसलमानों के प्रति उनके स्नेह, सद्भाव और निजता का परिचायक है। इसी प्रकार उनका पुत्र प्रताप नज़ीर का मित्र है तो उनकी पत्नी पंडिताइन जैनब के साथ बहनों जैसा व्यवहार करती है और नज़ीर को पुत्रवत् मानती है।[३] 'वफ़ाती चाचा' में यत्र-तत्र इस प्रकार के जो संदर्भ हैं उनसे नाटककार ने निश्चय ही देशभक्ति रस का परिपाक किया है।

देशभक्ति रस के अंग-रूप में 'वफ़ाती चाचा' में अन्य रसों के साथ वीर रस की भी अच्छी योजना है। बीरूसिंह शरणागत कासिम की रक्षा कर[४] न केवल अपने क्षत्रिय धर्म का ही निर्वाह करता है वरन् हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का एक नया द्वार भी उद्घाटित करता है। उस समय बीरूसिंह का उत्साह देखते ही बनता है। आवेश में आये हिन्दुओं से उस समय वह जो वार्तालाप करता है, वह उसकी वीरता और निर्भीकता को प्रमाणित करता है :

एक हिन्दू—(आवेश के साथ) हम उसे छोड़ेंगे नहीं। बताइये कहाँ है ?

बीरू—(जरा कड़े होकर) वह मेरे घर के अन्दर है, उसमें कोई नहीं जा सकता।

एक हिन्दू—क्या आप हिन्दू हैं ?

---

१. वफ़ाती चाचा, पृ० ३६
२. वही, पृ० ५
३. दे० वही, पृ० ६-१२
४. वही, पृ० १०६-१०८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

बीरू—हाँ, मैं हिन्दू हूँ, और सच्चा हिन्दू हूँ, इसी से शरण में आये हुए को अपने प्राण देकर भी बचाऊँगा।

एक हिन्दू—धिक्कार है आपको; आप हिन्दुओं के एक दुश्मन को शरण देते हैं।

वीरू—यह हमारे लिये गर्व की बात है कि दुश्मन हमारी शरण में आया है।[1]

जब कुछ ठाकुर बीरसेन सिंह से हाथापाई करने लगते हैं तो एक अन्य ठाकुर अपने पुराने बैर का बदला लेने के लिए उसके पेट में जोर से लाठी का सिरा दे मारता है जिससे वह मूर्छित हो जाता है। इस अवसर पर बीरूसिंह की पत्नी जयन्ती सिंहनी का रूप धारण कर हाथ में लाठी ले लेती है और उस भीड़ को ललकारते हुए कहती है—'कायरो, नामर्दो, तुम इतने आदमी मिलकर एक आदमी से लड़ रहे हो? खबरदार, तुम लोग यहाँ से चले न गये, तो एक-एक का मैं सिर तोड़ दूँगी। उठाओ लाठी, जिसमें हिम्मत हो; मैं भी क्षत्रिय की लड़की हूँ, आज तुम अपनी नीचता की सज़ा लेकर तब जाओगे।'[2] जयन्ती की यह वीरता शत्रु-पक्ष को निस्तब्ध करने के लिए पर्याप्त है। तभी गाँव के हिन्दू-मुसलमानों की भीड़ के साथ रतन पांडे प्रविष्ट होकर जयन्ती के इस अप्रतिम शौर्य और उसके पति की वीरता की प्रशंसा करते हैं।[3] जो कार्य कासिम की रक्षा के लिए वीरूसिंह, जयन्ती और रतन पांडे करते हैं, वही कार्य वफ़ाती अपने पुत्र कासिम के विरुद्ध लाठी उठाकर करता है।[4] इन अवसरों पर नाटककार ने विभिन्न पात्रों के उत्साह भाव के साथ वीर रस की सुन्दर व्यंजना की है, साथ ही चेहरे की लालिमा, अद्भुत तेजस्विता, अमर्ष आदि अनुभावों का भी कोष्ठक में निर्देश किया है। शत्रु-पक्षों के क्रोध से तमतमाये चेहरों का उल्लेख करना भी नाटककार नहीं भूला है।[5] कहने की आवश्यकता नहीं कि शत्रुपक्ष की आंगिक और वाचिक चेष्टाओं से वीर-व्यक्तियों के उत्साह का उद्दीपन हुआ है।

वीर रस के अतिरिक्त शृंगार, वत्सल आदि रस-भाव भी 'वफ़ाती चाचा' में अंग रस के रूप में विनियोजित हैं। वफ़ाती और जैनब का पारस्परिक प्रेम एक-दूसरे के लिए उनकी चिन्ता से ही व्यंजित है। वफ़ाती मुसलमान वकील के यहाँ नौकरी तो कर लेता है पर हर समय अपनी पत्नी और पुत्र की चिन्ता में लीन रहता है: 'आज पाँचवा दिन है। मैंने नजीर की माँ से वादा किया था कि जाते ही कुछ भेजूँगा। लेकिन यहाँ तो महीने भर बाद पाँच रुपये मिलेंगे। तब तक वह और नजीर क्या जीते रहेंगे? मुझे तो रोज दोनों वक्त खाना मिला जा रहा है लेकिन एक कौर भी मुँह में मुश्किल से जाता है; नजीर और उसकी माँ की सूरत हर वक्त आँखों के आगे नाचती

---

१. वफाती चाचा, पृ० १०७
२. वही, पृ० १०८
३. वही, पृ० १०८-९
४. वही, पृ० ११२
५. वही, पृ० ११२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रहती है। (आँखों में आँसू आ जाते हैं। गहरी साँस लेता है।)"[1] चिन्ता संचारी और इन अनुभावों के द्वारा नाटककार ने श्रृंगार रस के परिपाक का प्रयत्न किया है। वफ़ाती वकील साहब के कोट की जेब से अपनी पत्नी के जीवन-रक्षा के ही विचार से दो रुपये निकाल लेता है। उस स्थल पर वफ़ाती के अन्तःसंघर्ष, मति और वितर्क का नाटककार ने सुन्दर चित्रण किया है।[2] केवल वफ़ाती ही अपनी पत्नी के लिए चिन्तित हो, यह बात नहीं। उसकी पत्नी जैनब भी उसके वियोग में दुःखी और चिन्तित है।[3] वफ़ाती और जैनब के वियोग श्रृंगार का ही नहीं, संयोग श्रृंगार का निरूपण भी त्रिपाठीजी ने किया है।[4] इसी प्रकार कवि और कवि-पत्नी[5] तथा बीरू सिंह और जयंती के पारस्परिक हास-परिहास और संयोग श्रृंगार के दृश्यों की योजना भी नाटककार ने की है।[6] प्रारंभ में, अपने पति को मूर्ख समझने वाली जयंती अन्ततः उसकी वीरता पर मुग्ध होकर न केवल उसकी ओर 'अनुराग-भरी दृष्टि से देखती है', वरन् उसकी प्रशंसा भी करती है और हाथ पकड़ कर घर के अन्दर भी ले जाती है।[7] कहने की आवश्यकता नहीं कि ये स्थल श्रृंगाराभिव्यंजक हैं।

'वफ़ाती चाचा' में, अंग-रस के रूप में, वत्सल रस की भी योजना है। रतन पांडे का पुत्र-स्नेह प्रताप के मुंडन-संस्कार के अवसर पर दिये गये सहभोज से ही व्यंजित है। वफ़ाती के अपत्य-स्नेह की जो विस्तृत योजना इस नाटक में की गयी है, वह रस-रूप में परिणत हो गयी है। वफ़ाती की निर्धनता का यह आलम है कि उसके यहाँ दो जून के भोजन की भी व्यवस्था नहीं। अपने बच्चे की क्षुधा उसे व्यग्र किये है। वह अपनी पत्नी से कातर स्वर में कहता है : 'सोचने के लिए अब कुछ नहीं है। सवेरे काम की खोज में घर से निकला। कहीं काम नहीं मिला। अपने पेट की पीर में अंगै सकता हूँ; पर नन्हें-से बच्चे को भूखा-प्यासा मैं नहीं देख सकता। हाय! मैं किसको अपना दुखड़ा सुनाऊँ? मेरी आँखों के आगे मेरा लाल, मेरे कलेजे का टुकड़ा, भूखा पड़ा है। हे अल्लाह!—(आँसू गिराता है, और खाट पर छटपटाता है। यकायक उठकर खाट पर बैठ जाता है।) देखो तो, घर में कोई चीज हो तो दो। बाजार में बेचकर बच्चे की जान बचाऊँ।'[8] प्रवास में भी वफ़ाती को नज़ीर की चिन्ता सताती है।[9] जैनब का पुत्र-स्नेह भी विभावानुभावादि से परिपाक को प्राप्त कर वत्सल रस में व्यक्त हुआ

---

१. वफ़ाती चाचा, पृ० १४
२. वही, पृ० १४-१५
३. वही, पृ० २४
४. वही, पृ० २५-२७
५. वही, पृ० ५६-६०
६. वही, पृ० ६०-६५
७. वही, पृ० १०९
८. वही, पृ० ५-६
९. वही, पृ० १३-१४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

है। वह नज़ीर के हठ करने पर उसे थप्पड़ मारती है, सिसकते बच्चे को गोदी में सुलाती है और उसे प्यार से देखती भी है।[१] जब पंडिताइन नज़ीर को प्रताप के साथ रहने, खेलने, खाने और पढ़ने के लिए जैनब से माँगती है तो उसका मुख अश्रु-पूरित हो जाता है और अपत्य-स्नेह इन शब्दों में व्यक्त होकर वत्सल रस में निष्पन्न हो जाता है : 'वह तो तुम्हारा ही बेटा है, बहन !—लेकिन मैं उसे आँखों से ओझल कैसे होने दूं ? वही तो इस खंडहर का चिराग़ है। उसको देखकर हम दोनों अपनी सब मुसीबतें खुशी-खुशी झेल लेते हैं।'[२] नाटक में अन्यत्र भी ऐसे स्थल अलभ्य नहीं हैं। इन प्रसंगों-दृश्यों में माता-पिता, पड़ोसी आदि आश्रय हैं और सन्तान (प्रताप, नज़ीर आदि) आलम्बन। प्रताप, नज़ीर आदि को देखकर उनके हृदय में स्थित वात्सल्य स्थायी उद्‌बुद्ध और उनकी चेष्टाओं से उद्दीपित होकर पुलक, स्मित, सस्नेहवीक्षण, गुण-कथन, रोमांच, स्नेहाश्रु आदि अनुभावों से व्यक्त एवं चिन्ता, शंका, मोह, स्मृति, गर्व, विषाद आदि संचारी भावों से परिपुष्ट होकर वत्सल रस में निष्पन्न हो गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि विविध सम्प्रदायों के वयोवृद्धों का एक-दूसरे की सन्तति के प्रति जो वात्सल्य है, वह भी उनकी भावात्मक एकता में सहायक है।

'वफ़ाती चाचा' में हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक स्नेह-भाव का भी अच्छा चित्रण हुआ है। उनका पारस्परिक स्नेह-सम्बन्ध एक-दूसरे से परच जाने के साथ साहचर्यजन्य भी है। रतन पांडे का सहभोज के अवसर पर मुसलमानों को आमंत्रित करना,[३] पंडिताइन का नज़ीर और प्रताप को समदृष्टि से देखना,[४] वफ़ाती का जगन मुराई की गाय की रक्षा के लिए पाँच रुपये देकर मालगुजारी चुकाना[५] आदि इसके प्रमाण हैं।

संक्षेप में, 'वफ़ाती चाचा' देशभक्ति रस की रचना है किन्तु अंग-रूप में इसमें वीर, शृंगार, वत्सल आदि रसों और स्नेह, अमर्ष आदि भावों की भी सुन्दर योजना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कविवर रामनरेश त्रिपाठी ने अपने इस नाटक में इन रस-भावों का विधान अत्यन्त सजग और सचेत रूप में किया है।

कमला : उदयशंकर भट्ट

उदयशंकर भट्ट का 'कमला' (१९३९ ई०) आधुनिकताबोधसम्पन्न प्रतिनिधि समस्या-नाटक है।[१] इस समस्या-नाटक में आधुनिक प्रगतिशील चिन्तन के फलस्वरूप

---

१. वफ़ाती चाचा, पृ० ६
४. वही, पृ० १०
५. वही, पृ० ४
६. वही, पृ० १०
७. वही, पृ० २२-२३
१. (क) 'हिन्दी-समस्या-नाटक' पर शोध करने वाले डॉ० मान्धाता ओझा ने इस नाटक का विवेचन हिन्दी के एक प्रतिनिधि समस्या-नाटक के रूप में किया है।
—देखिए ; हिन्दी समस्या-नाटक, पृ० २११

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

जमींदारी-प्रथा के प्रति युवा पीढ़ी के परिवर्तित दृष्टिकोण और पुरानी पीढ़ी के रूढ़ दृष्टिकोण के संघात से जमींदार-परिवारों में आये विघटन, पारस्परिक तनाव और तज्जन्य त्रास एवं करुणा की नाटकीय अभिव्यक्ति हुई है। जमींदारी-प्रथा-उन्मूलन के संक्रान्ति-काल में जमींदार-परिवारों में जो समस्याएँ उत्पन्न हुईं, उनके मूल में वैचारिक-नैतिक मतभेद तो थे ही, आर्थिक परिवर्तित स्थिति भी थी। आधुनिक शिक्षा के फलस्वरूप युवा पीढ़ी शोषित किसानों के प्रति जिस उदार, विवेकी और सहानुभूतिपरक दृष्टि को लेकर आई, वह रूढ़ दृष्टि-सम्पन्न पुरानी पीढ़ी को मान्य न थी, फलतः जमींदार-परिवारों में पारस्परिक द्वन्द्व और संघर्ष की स्थितियाँ पैदा हो गयीं। ऐसी स्थिति में वृद्ध जमींदारों का संघर्ष केवल किसानों से ही नहीं, प्रायः अपने परिवार के युवा सदस्यों से भी था। उनके मन में जहाँ किसानों की परिवर्तित स्थिति और इसके संदर्भ में परिवर्तित मानसिकता के प्रति भीषण असन्तोष और आक्रोश था, वहाँ अपनी युवा पीढ़ी के प्रति भी कम न था। 'कमला' इसी मनोभूमि की रचना है।

'कमला' में वृद्ध जमींदार पं० देवनारायण एक नवयुवती कमला से दूसरा विवाह कर लेता है। कमला शिक्षिता, सच्चरित्रा और आधुनिकताबोध-सम्पन्न है। वह अपनी सखी उमा की अवैध सन्तान 'शशी कुमार'[२] को, जो वहीं अनाथालय में है और वहाँ की यातनाओं से संत्रस्त है, अपने पास रख लेती है। नाटक की यह प्रारम्भिक घटना ही पारिवारिक त्रासदी का बीज है। कमला का पं० देवनारायण से बिना पूछे अपनी पड़ोसिन प्रतिमा के साथ अनाथालय जाना और अपनी शरण में आये शशीकुमार को अपने साथ रखने का हठ करना जहाँ देवनारायण के क्रोध और आक्रोश को जन्म देता है, वहीं उनके मन में उसके चरित्र के प्रति शंका भी उत्पन्न करता है। देवनारायण की विधवा लड़की माधवी, प्रतिमा के उकसाने पर, आग में घी डालने का काम करती है। वह अपने पिता के मन में कमला के कुलटा होने की आशंका को पुष्ट कर उसे घर से निकलवा देती है। जमींदार देवनारायण का छोटा लड़का विश्वनारायण अपने पिता के विरुद्ध किसानों का साथ देकर उनकी रक्षा के लिए जेल जाता है। उसकी समाज सेवा, सैद्धांतिक निष्ठा और त्याग-भावना देखते ही बनती है। वहीं एक अन्य समाज-सेविका उमा के प्रति वह आकर्षित हो जाता है। लोक-सेवा के प्रति उमा में भी अदम्य उत्साह है। विश्वनारायण और उमा के पारस्परिक आकर्षण के मूल में उनकी इस समानाभिरुचि का भी हाथ है। विश्वनारायण के वन्दी हो जाने की सूचना देने के लिए जब उमा जमींदार के घर आती है तो माधवी उसकी व्यवहार-कुशलता, वाग्वैदग्ध्य, नेतृत्व-शक्ति और रूप-लावण्य पर रीझ जाती है। उसकी बातचीत से वह यह अनुमान भी लगा लेती है कि उसका भाई विश्वनारायण और वह परस्पर अनुरक्त हैं। उसके

(ख) प्रो० जयनाथ 'नलिन' के अनुसार, "नाटकीय कला के विकास की दृष्टि से देखें तो 'कमला' और 'शक-विजय' भट्टजी के श्रेष्ठ नाटक हैं।...'कमला' ने ही कला के अभ्यास और विकास के बीच लकीर खींची है।" —हिन्दी नाटककार, पृ० १८१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पिता देवनारायण जब अपने पुत्र विश्वनारायण को छुड़वा लाते हैं तो वह उनसे अपने भाई का विवाह उमादेवी से कर देने का आग्रह करती है। देवनारायण कमला के चले जाने के बाद से कुछ उन्मादग्रस्त से हैं और वे बात-बात में उसी का नाम लेते हैं। कभी-कभी वे अपने दिवंगत बड़े लड़के यज्ञनारायण का नाम लेकर उसे विश्वनारायण से श्रेष्ठ बताते हैं। जब माधवी अपने पिता से विवाह विषयक उपर्युक्त चर्चा कर रही होती है तभी उमादेवी प्रवेश करती है और अपनी व्यवहार-कुशलता से पं० देवनारायण का मन जीत लेती है। वे विश्वनारायण के साथ उमादेवी के विवाह-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं, पर तभी उन्हें यज्ञनारायण का स्मरण हो आता है और वे कह बैठते हैं—'क्या ही अच्छा होता यदि आज यज्ञनारायण होता। तुमने देखा बेटी उमा, विश्वनारायण के भाई को। बड़ा योग्य लड़का था। बड़ा सुशील ! यह उसकी तस्वीर है (इशारा करता है)।'[1] यज्ञनारायण के चित्र को देखते ही उमा का रंग फीका पड़ जाता है, वह पीली पड़ कर मूर्छित हो जाती है, क्योंकि इसी दुराचारी ने उसका कौमार्य भंग कर उसके जीवन को नष्ट किया था। यहीं यह रहस्योद्घाटन भी होता है कि शशीकुमार यज्ञनारायण के दुराचार से उत्पन्न उमा देवी का अवैध पुत्र है। जिसे देवनारायण श्रेष्ठ समझते थे, वह भी दुराचारी था—इस रहस्योद्घाटन से जमींदार परिवार की त्रासदी और गहरा जाती है तथा कमला की सच्चरित्रता प्रमाणित हो जाती है, पर तभी विश्वनारायण प्रविष्ट होकर यह सूचित करता है कि 'शशी चोरी करते पकड़ा गया, कमला नदी में डूब गई, उसकी लाश पुलिस को मिली है।'[2] जमींदार देवनारायण इस सदमे को बर्दाश्त नहीं कर पाते और उसकी मृत्यु हो जाती है। शशी चोरी करते पकड़ा गया, इस सूचना से उमा भी पुनः मूर्छित हो जाती है और इसी के साथ पर्दा गिर जाता है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'कमला' का वस्तु-विधान त्रासदी के प्राचीन भव्य रूप से भिन्न उसके नवीन आधुनिक रूप के अनुकूल है, फलतः इसमें करुण रस परिपाक को प्राप्त नहीं कर सका है। इस पारिवारिक-सामाजिक दुःखान्तकी के लिए जो पात्र मुख्यतः उत्तरदायी है उसका चरित्र न तो प्राचीन त्रासदियों के समान महिमा-मण्डित है, न उसके जीवन में वह दुर्धर्ष संघर्ष है और न वह पाठकों-दर्शकों की सहानुभूति ही अर्जित कर पाता है। इसके विपरीत इस त्रासदी का मुख्य उद्देश्य सामन्तवादी मनोवृत्ति के थोथे दम्भ, मिथ्याभिमान, रूढ़ दृष्टि और निरीह दलित-शोषित किसानों अथवा अबलाओं के शोषण के प्रति वैचारिक जुगुप्सा को उद्बुद्ध और परिपुष्ट करना ही है और तदनुकूल इस नाट्यकृति का रस-विधान भी है। विवेच्य नाटक की इस मूल संवेदना को न पकड़ पाने के ही कारण डॉ० मान्धाता ओझा को इस दृष्टि से निराशा हाथ लगी है और उन्हें यह लिखना पड़ा है कि 'स्थितियों के समस्त प्रवाह में करुणा

१. कमला, पृ० ८१
२. वही, पृ० ८३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की भावना ध्वनित होती है। किन्तु दुःखान्तकी प्रधान होते हुए भी नाटक में करुण-रस का परिपाक नहीं हुआ है।'[1] वस्तुतः इस शोकान्तिकी के मूल में सामन्तवादिता के प्रति सहृदयों के मन-मस्तिष्क में क्षोभ, आक्रोश, वितृष्णा और जुगुप्सा उत्पन्न करना ही नाटककार का लक्ष्य रहा है, फलतः यहाँ त्रास (टेरर) और करुणा (पिटी) का भाव उतना घनीभूत नहीं है, अतः करुण की रस-निष्पत्ति न होना ही सहज स्वाभाविक है। भट्टजी ने इस नाटक में कमला की दयनीय स्थिति एवं कारुणिक अन्त तथा उमा के जीवन की करुण त्रासदी के द्वारा वस्तुतः कुलीनता और पौरुष के दर्प पर व्यंग्य कर सामन्तवादी आभिजात्य एवं रूढ़-नैतिक दृष्टि के प्रति पाठकों-प्रेक्षकों की वैचारिक जुगुप्सा को ही घनीभूत किया है, साथ ही उन सामन्तों-शोषकों के प्रति उनके मन में आक्रोश भी उद्बुद्ध किया है जो अबलाओं की इस सामाजिक अवमानना, दुर्दशा और कारुणिक अन्त के लिए उत्तरदायी हैं। 'कमला' में भट्टजी ने बीभत्स को एक गुणात्मक अन्तर के साथ उपस्थित किया है। आधुनिक-चेतना सम्पन्न अधिकतर नाटकों में प्रायः बीभत्स का यही रूप सुलभ है। इस तथ्य को विस्मृत कर देने पर इस प्रकार के नाटकों की मूल चेतना के विश्लेषण में निश्चय ही कठिनाई हो सकती है। जैसा कि कहा जा चुका है; इस प्रकार के नाटकों का लक्ष्य सामाजिकों के हृदय में गली-सड़ी मान्यताओं और रूढ़ियों के प्रति वैचारिक जुगुप्सा, वितृष्णा और क्षोभ उत्पन्न करना होता है। 'कमला' में इस लक्ष्य की सिद्धि अभिधात्मक न होकर व्यंजनात्मक है और नाटक का समग्र रचना-विधान इसी के लिये है। नाटककार ने अमर्ष, चिन्ता, शंका, रति, दैन्य, भय, देश-भक्ति, स्मृति, उन्माद, शोक आदि भावों का भी यत्र-तत्र विधान किया है किन्तु उनके परिपाक की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इन सबके द्वारा प्रेक्षकों की वैचारिक जुगुप्सा को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न नाटककार का अवश्य रहा है, वही इस नाटक का अंगी है—शेष सब भाव इसी के अंगभूत हैं।

नाटक का सर्वप्रमुख पात्र ज़मींदार देवनारायण, जिसे इस नाटक का नायक माना जा सकता है, अपनी पारिवारिक त्रासदी के लिए स्वयं उत्तरदायी है। वह सामन्तवादी संस्कृति का प्रतीक है और उसमें तथा उसके युवा पुत्र विश्वनारायण में वैचारिक मतभेद है। पिता किसान-विरोधी है, कांग्रेस, समाजवाद, साम्यवाद आदि से उसे चिढ़ है। वह किसानों की शिक्षा या जागृति आदि के पक्ष में नहीं। वह किसी भी स्थिति में उन्हें अपने समकक्ष मानकर उनसे मिलने, बातचीत करने या किसी प्रकार का समझौता करने में अपना अपमान समझता है। उसे अपनी झूठी प्रतिष्ठा का जितना ध्यान है, उतना अन्य किसी बात का नहीं—यहाँ तक कि अपने परिवार के सदस्यों या पारिवारिक सुख-शांति का भी नहीं। उसकी दृष्टि में 'स्त्री विलास की सामग्री' या धनी पुरुषों के 'उपभोग की वस्तु है।'[2] 'ईश्वर सदा से चली आई परम्परा के अनुसार

---

१. हिन्दी-समस्या-नाटक, पृ० २१५
२. कमला, पृ० १

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

दूसरों के—अपने लिए नहीं—डराने की वस्तु है। पुत्र आज्ञा के लिए पैदा किये जाते हैं ताकि वे पिता के शासन की वस्तु बने।'[1] प्रमाता इस तथ्य से परिचित हैं कि देवनारायण की यही सामन्तवादी रूढ़ दृष्टि ही इस पारिवारिक शोकान्तिकी के मूल में है, फलतः देवनारायण के प्रति उनके मन में कोई सहानुभूति नहीं, उल्टे विक्षोभ और वितृष्णा ही है।

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से 'कमला' को बहुत सबल नहीं माना जा सकता। नाटककार ने न तो नाटकीय परिस्थितियों का समुचित उपयोग किया है, न चरित्र-विधान की ओर ही अपेक्षित ध्यान दिया है। देवनारायण को छोड़कर अन्य पात्रों की चरित्र-सृष्टि में नाटककार को बहुत सफलता नहीं मिली है। यहाँ तक कि कमला के व्यक्तित्व को भी इस नाट्य-कृति में पूरी तरह उभारा नहीं गया है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में 'कमला में वांछित व्यक्तित्व का अभाव है।'[2] फलतः इसका 'कमला' नामकरण बहुत संगत नहीं लगता। कमला की तुलना में उमादेवी की चारित्रिक विशिष्टताएँ अधिक सहज, मनोवैज्ञानिक, मानवीय और सबल हैं। नायिका की दृष्टि से उसे ही 'कमला' की नायिका मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इस नाटक की घटनाएँ सहज-स्वाभाविक और विश्वसनीय न होकर आरोपित और पूर्व-निर्धारित सी लगती हैं, फलतः नाटक का समग्र-प्रभाव खण्डित हो गया है। 'कमला' की इन्हीं सीमाओं के कारण डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'यह नाटक अंशों में जितना सशक्त है समग्र रूप में उतना सफल नहीं है।'[3] उनके इस सुविचारित निष्कर्ष से हम सहमत हैं।

अन्तःपुर का छिद्र : गोविन्दवल्लभ पंत

बौद्धकालीन पृष्ठभूमि पर लिखित 'अन्तःपुर का छिद्र' (सन् १९४० ई०) भाव-नाट्य[4] में कौशांबी नरेश (वत्सराज) उदयन की चहेती रानी पद्मावती भगवान् अमिताभ के ज्ञान, त्याग आदि (प्रभा-मण्डल) से प्रभावित होकर उनके दर्शन-लाभ के निमित्त राजप्रासाद की उस दीवार में अपनी कटार से छिद्र करती है जो राजपथोन्मुख है। जब वह रात्रि-वेला में छिद्र कर रही होती है, तभी उसकी सौत मागंधिनी आकर उसका रहस्य जान लेती है। छिद्र के रहस्य को छिपाये रखने के लिए पद्मावती उस पर वत्सराज उदयन का चित्र रख देती है और नित्य-प्रति सायं उससे विहार को लौटते अमिताभ बोधिसत्व के दर्शन करती है। अमिताभ ने कभी मागंधिनी से विवाह करने से इन्कार कर दिया था, अतः वह उनसे प्रतिशोध लेना चाहती है; साथ ही पद्मावती के प्रति राजा उदयन के मन में घृणा एवं संदेह जगा कर स्वयं उनका समग्र प्रेम पाना

१. कमला, पृ० ३
२. आधुनिक हिन्दी-नाटक, पृ० ४४
३. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ४४
४. डॉ० नगेन्द्र ने 'अन्तःपुर का छिद्र' की गणना प्रमुख भाव-नाट्यों के अन्तर्गत की है।—दे० आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ८४, ८९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

चाहती है और इसके लिए जघन्य से जघन्य कृत्य करने को तत्पर है। उसके मन में ईर्ष्या और द्वेष की आग जल रही है। अवसर पाकर वह राजा उदयन के मन में पद्मावती के प्रति सन्देह-भाव जगा देती है, परिणामतः राजा पद्मावती से कुछ उदासीन से रहने लगते हैं। पद्मावती इस विराग को लक्षित कर राजा से इसका कारण जानने का प्रयत्न भी करती है, पर उसके हाथ लगती है निराशा। उधर मागंधिनी राजा के अधिक समीप आ जाने से उनसे हस्तीस्कंध वीणा सुनाने का अनुरोध करती है। यह वीणा राजा ने पद्मावती को दे रखी है, अतः उससे मँगवाते हैं। षड्यन्त्रकारिणी मागंधिनी मालिन से मँगवाया हुआ सर्प, अवसर पाकर वीणा में डाल देती है। राजा ज्यों ही वीणा-वादन करता है, सर्प निकल आता है। मागंधिनी राजा को समझाती है कि यह कुकृत्य पद्मावती का किया हुआ है, अतः वह और बोधिसत्व दण्ड के अधिकारी हैं। क्रोधाविष्ट उदयन, छिद्र से भगवान बुद्ध की प्रतीक्षा करती पद्मावती पर वाण चलाता है, पर वह लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है; वह पुनः वाण चलाता है, पर इस वार भी पद्मावती बच जाती है और उनका वाण प्राचीर में धँसकर रह जाता है। इसी बीच मालिन आकर यह रहस्योद्घाटित करती है कि वह सर्प मागंधिनी ने उससे मँगवाया था और उसी के काटने से उसकी मृत्यु हो गयी है। पद्मावती को निर्दोष पाकर और यह समझ कर कि उन्होंने उसकी हत्या कर दी है, उदयन पश्चात्ताप करने लगते हैं, पर तभी पद्मावती की वाणी सुनकर वे आश्वस्त होते हैं कि वह मरी नहीं है। पद्मावती दीवार में धँसे, लक्ष्यभ्रष्ट तीर को निकालकर तूणीर में रखने के लिए वत्सराज को देती है। उसी समय एक दूसरा तीर लिए अमिताभ प्रविष्ट होते हैं और राजा को बाण देकर कहते हैं, 'हाँ, कदाचित् (छिद्र दिखाकर) इसी छिद्र से बाहर आया।...इस तीर में महाराज उदयन का नाम अंकित देखकर मैं महाराज को खोजता हुआ इधर चला आया हूँ। प्रहरियों ने मेरे मार्ग में कोई बाधा नहीं रक्खी।'[1] पद्मावती और उदयन भक्ति-भाव से प्रणत होकर बुद्ध की शरण में जाने की इच्छा व्यक्त करते हैं और बुद्ध (अमिताभ) उन्हें संघ में प्रविष्ट कर लेते हैं। यहीं नाटक समाप्त होता है।

डॉ० नगेन्द्र ने 'अन्तःपुर का छिद्र' की गणना भाव-नाट्य-श्रेणी के नाटकों में की है। उनके मत में 'गीति-नाट्य से ही बहुत कुछ मिलते-जुलते कतिपय अन्य नाटक भी हिन्दी में हैं, जिन्हें हम आसानी से भाव-नाट्य कह सकते हैं। इन दोनों की आत्मा एक ही है अर्थात् ये गीतिप्राण हैं, इनमें घटना की मांसलता नहीं है, भावना की तरलता है—परन्तु माध्यम भिन्न है। गीति-नाट्य सर्वथा कवितावद्ध है; भाव-नाट्यों का माध्यम गद्य होता है।...इसका भी मुख्य रस शृंगार और प्रधान-पात्र-नारी होता है। नारी की प्रधानता में विशेष मार्दव और चारुता होना अनिवार्य है।'[2] निस्सन्देह 'अन्तःपुर का छिद्र' का वस्तु-पात्र-विधान बहुत दूर तक 'भाव-नाट्य' के

---

१. अन्तःपुर का छिद्र, पृ० ८१
२. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ८४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

अनुरूप है, पर रस-विधान की दृष्टि से यहाँ मतभेद की गुंजाइश हो सकती है।

विवेच्य नाटक का रचना-विधान पर्याप्ततः स्वच्छन्दतावादी है। इसकी कथा-वस्तु ऐतिहासिक होते हुए भी मूलतः भाव-प्रवण, गीतिमय, मनोवैज्ञानिक और कलात्मक है। डॉ० चन्द्रूलाल दूबे ने इसकी गणना स्वच्छन्दतावादी युग के उत्कृष्ट ऐतिहासिक गद्य नाटकों में की है।[1] डॉ० नगेन्द्र ने भी प्रस्तुत नाटक की इस प्रकृति का उद्‌घाटन प्रकारान्तर से इन शब्दों में किया है : 'पं० गोविन्द वल्लभ पन्त की प्रतिभा में एक कोमल गीति भावना मिलती है—इस भावुकता में छायावाद का सूक्ष्म अन्तः-विश्लेषण तो नहीं है, परन्तु संस्कृत गीति-काव्य की तरलता निस्सन्देह है। एक हल्का-सा रोमांस का स्पर्श और उसमें चंचल होकर मुस्कराती हुई भाषा, उनके नाटकों का सर्वस्व है। प्रकृति के प्रति उनका सहज मोह है—उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन भी प्रकृति-चित्र ही हैं।'[2] भाषा का यही स्निग्ध-मसृण, कोमल-कान्त और मधुर रूप तथा यत्र-तत्र प्राकृतिक दृश्यों की योजना 'अन्तःपुर का छिद्र' में सहज सुलभ है। प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य का प्रारम्भ खिली हुई चाँदनी से होता है[3] तो तृतीय अंक के प्रथम दृश्य का राजभवन के निकटवर्ती उद्यान से है।[4]

नाटकीय कथा का विकास मनोवैज्ञानिक है। इसके प्रमुख पात्र अमिताभ, उदयन, पद्‌मावती और मागंधिनी ऐतिहासिक हैं। नाटक निश्चय ही नायिका-प्रधान है और इसकी नायिका है पद्मावती। मांगधिनी की उपस्थिति खलनायिका के रूप में है जो उदयन का समग्र प्रेम प्राप्त करने के लिए षड्यन्त्र रचकर उसके हृदय में पद्‌मावती के लिए शंका और सन्देह का बीजारोपण करती है। अमिताभ के प्रति मागंधिनी का प्रति-शोधभाव पद्‌मावती के प्रति ईर्ष्या और सौतिया डाह तथा उदयन के प्रेम का एकान्त उपभोग उसके इस स्वगत कथन से ही व्यंजित है : 'इस निर्धन की कन्या को वत्सराज के भवन में स्थान इसलिए मिला कि रूप की पहली हार भूल सकूँ। पद्‌मावती ! तुम न भूलने दोगी। इस संन्यासी से जितनी दूर जाना चाहती हूँ, यह उतना ही निकट खड़ा दिखाई देता है। वह दीवार में छिद्र कर उसे राजभवन के भीतर भी लाना चाहती है। यही छिद्र लक्ष्य-विन्दु हो। सिद्धार्थ के साथ वहाँ पद्‌मावती भी है। प्रियतम के प्रेम का उत्तम और अधिक अंश क्या इसने मुझसे नहीं छीन रखा है ? तब क्यों न एक ही उपाय से ये दोनों बाधाएँ दूर हों।'[5] अपने इन मनोभावों की सिद्धि-हेतु मागंधिनी जघन्य से जघन्य अपराध कर सकती है, करती है। उसके अन्तर्बाह्य संघर्ष को नाटक-कार ने एक सीमा तक उभारा है। पद्‌मावती का अन्तःसंघर्ष भी नाटक में कुछ दूर तक

---

१. हिन्दी नाटकों का रूप-विधान और वस्तु-विकास, पृ० ९०
२. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ८६
३. अन्तःपुर का छिद्र, पृ० २१
४. वही, पृ० ४५
५. वही, पृ० २१-२२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

ध्वनित है, पर अमिताभ बोधिसत्व के आकर्षण से इनके मानसिक घात-प्रतिघातों और हृदयस्थ अन्तर्द्वन्द्वों की घनीभूत अभिव्यक्ति में नाटककार बहुत सफल नहीं हो सका है, साथ ही इस संदर्भ में, उदयन के हार्दिक उद्वेलन की अभिव्यक्ति में भी डॉ० नगेन्द्र जैसे मूर्धन्य आलोचक ने नाटक के इस अभाव की ओर संकेत किया है।[1]

रस-दृष्टि से विचार करने पर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि 'अन्तःपुर का छिद्र' एक सरस नाटक है। इसमें दो प्रबल रस-भाव-धाराएँ समानान्तर रूप से वेगवती हैं। यदि एक ओर भक्ति-भाव की धारा प्रवहमान है, तो दूसरी ओर रति भाव की भी। पद्मावती के हृदय में अमिताभ के प्रति जो आकर्षण है, चेतन के स्तर पर वह भक्ति-भाव-प्रेरित है। बोधिसत्व के देवोपम गुणों के ही कारण पद्मावती उन्हें देखने को उत्कण्ठित है और इसी कारण वह राजप्रासाद की प्राचीर में छिद्र करती है ताकि सन्ध्या समय विहार को लौटते अमिताभ के दर्शन कर सके। आर्यपुत्र के प्रति विश्वासघात का भाव उसके मन में नहीं।[2] अमिताभ का गुण-कीर्तन करते हुए वह अपनी सौत मागंधिनी से कहती है, 'वही, जिसके शुभागमन से कौशांबी भी दिन-दिन शान्ति का सदन बनती जा रही है। अमिताभ बोधिसत्व—वही कपिल-वस्तु का राजकुमार सिद्धार्थ, जिसने विशुद्ध ज्ञान प्राप्त किया है, सृष्टि-संहार का तत्व समझा है।'[3] साथ ही, मागंधिनी से पूछती है—'तुमने कभी उस शान्त और स्थिर मूर्ति के दर्शन किए हैं क्या ? सुमधुर मुख ! उस पर निशा और प्रभात का प्रभाव ही नहीं। ज्वार-भाटा-हीन समुद्र ! वह जितना सम है, उतना ही गम्भीर।'[4] और जब उत्तर में मागंधिनी अमिताभ की निन्दा करते हुए कहती है, 'उस दिन राजसभा में काशी से एक कुलपति पधारे थे। उन्होंने इसे भंड तपस्वी सिद्ध किया। क्या तुमने यह सब नहीं सुना ?'[5] तो वह जरा भी विचलित नहीं होती। वह धैर्यपूर्वक उत्तर देती है—'नहीं, मेरे कान इन शब्दों के लिए बहरे हो जायँ।'[6] स्पष्टतः अमिताभ भक्ति के आलम्बन हैं; पद्मावती इसका आश्रय है (आगे चलकर उदयन भी); अमिताभ के गुण, उनकी शान्त, सुस्थिर मुख-मुद्रा, उनका विशुद्ध ज्ञान आदि उद्दीपन हैं, उत्कण्ठा, रोमांच, गुण-कथन आदि अनुभाव हैं और चिन्ता, भय, धृति आदि संचारी। इन सबसे परिपुष्ट होकर आराध्य विषयक अनुराग (भगवदनुराग) ही भक्ति रस में परिणत हुआ है। मार्ग-स्थिति बाधाओं और उनके निराकरण-द्वारा इसकी पुष्टि को बल मिला है। इसके विपरीत, अवचेतन के स्तर पर सिद्धार्थ के प्रति पद्मावती का यह आकर्षण निर्विकार नहीं। डॉ० नगेन्द्र का यह कथन अन्यथा नहीं कि 'चेतन रूप में तो उसका आकर्षण सात्विक और शुद्ध है, परन्तु अन्तर्चेतन में विकार न हो यह बात नहीं—वह

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ८६
२. अन्तःपुर का छिद्र, पृ० १३
३. वही, पृ० १८
४-६. वही, पृ० १६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

नारी का पुरुष के प्रति कामाकर्षण है।'[1] डॉ० वेदपाल खन्ना 'विमल' ने भी लगभग इसी शब्दावली में इस मत का समर्थन किया है।[2] वस्तुत: पद्मावती का सारा द्वन्द्व इसी भूमि पर टिका है—उसके हृदय के अन्त:संघर्ष के मूल में निश्चय ही चेतन-अवचेतन का यह द्वन्द्व है। यदि उसके हृदय में बोधिसत्व की दर्शनाभिलाषा केवल भक्ति-भाव-प्रेरित होती तो उदयन की प्रेम-पात्र और चहेती होने के कारण वह उसे उस पर स्पष्टत: व्यक्त कर सकती थी। अन्त:पुर की दीवार पर छिपकर छिद्र करना, उस भेद को गोपनीय बनाये रखने के लिए उसके आगे उदयन का चित्र लगाना, छिद्र बनाते समय भ्रमित, भयभीत एवं आशंकित होना और जरा-सी आहट से चौंक पड़ना, हर पल अमिताभ के ध्यान में खोये रहना आदि तथ्य उसके अन्तर्मन की वासना को ही प्रमाणित करते हैं।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि नाटककार ने इस नाटक का शीर्षक द्वयर्थक-प्रतीकात्मक रखा है। पद्मावती जो छिद्र करती है, स्थूलत: वह अन्त:पुर की दीवार पर है, पर वस्तुत: वह उसके हृदय में है। अन्त:पुर 'हृदय' का और छिद्र 'वासना' का प्रतीक है। इस रूप में 'अन्त:पुर का छिद्र' पर्याप्त व्यंजक और सार्थक है तथा पद्मावती के अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से गोविन्दवल्लभ पन्त ने इसकी चरितार्थता प्रमाणित की है। पद्मावती स्वयं भी अपने अन्त:करण के इस छिद्र से परिचित है, तभी तो अन्तत: एक स्वगत में वह यह स्वीकार करती है : 'यह छिद्र मैंने अपने वक्ष में किया है! इससे होकर मेरे मन की वेदना कई दिनों से राजपथ में फिर रही है। वह पगली है, चंचल नेत्र, मुक्त केश और बिखरा अंचल लिए वह दसों दिशाओं में किसी को खोज रही है।'[3] इस प्रकार भक्ति और शृंगार के द्वन्द्व में पद्मावती का चित्त दोलायमान अवश्य है, पर अन्तिम विजय भक्ति को ही मिली है। डॉ० नगेन्द्र ने भी प्रकारान्तर से यही स्वीकार किया है : 'अन्त में वह अपनी भावना को दमित न करके अपने पाप को स्वीकार करती है और वासना को उदात्त (Sublimate) करके ही छुटकारा पाती है।'[4] इस प्रकार नाटक का पर्यवसान भक्ति में हुआ है, पर अन्त:-सलिला की भाँति शृंगार की धारा भी 'अन्त:पुर का छिद्र' में अन्तर्व्याप्त रही है।

मागंधिनी का प्रतिशोध-भाव और सौतिया डाह मूलत: रति-प्रेरित होने से शृंगार-परिपाक में सहायक रहे हैं। पद्मावती का रति भाव भी विभावादि-परि-पुष्ट होने से शृंगार रस में निष्पन्न हुआ है—अमिताभ के प्रति उसका वियोग व्यंजित है। अनुभाव-विधान, व्यभिचार भावों की योजना और उसके द्वारा गाये जाने वाले गीत उसकी मन:स्थिति के व्यंजक हैं। उसके पहले ही गीत से सिद्धार्थ के प्रति उसकी

१ आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ८६
२. हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० २१९
३. अन्त:पुर का छिद्र, पृ० ७६
४. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ८६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

उत्कण्ठा, विरहाकुल प्रतीक्षा, स्मृति और स्वप्नों में अमिताभ का आना आदि व्यंजित हैं। उसके अश्रु, भ्रम, संकोच और भय उसकी मनोदशा को अव्यक्त नहीं रहने देते। बोधिसत्व का गुण-कीर्तन, अपयश-श्रवण की अनाकांक्षा और निरन्तर हित-चिन्तन आदि भी उसकी इसी मानसिकता को उजागर करते हैं। आंगिक, वाचिक और सात्त्विक अनुभावों का जो विधान नाटककार ने किया है, इस दृष्टि से वह भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण और भावाभिव्यंजक है। ऐसी स्थिति में, शृंगार की रस-धारा के 'अन्तःपुर का छिद्र' में पर्याप्त प्रबल होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। अमिताभ बोधिसत्व को छोड़कर—जो शारीरिक दृष्टि से नाटक के अन्त में उपस्थिति होते हैं, पर जिनका प्रभाव-वलय इस नाटक में आद्यन्त परिव्याप्त है और इस दृष्टि से जिन्हें इस नाटक का नायक भी माना जा सकता है—नाटक के सारे प्रधान-पात्र इसी वह्नि से परितप्त हैं। पद्मावती और मागंधिनी में तो यह आग तीव्रतर है ही, महाराज उदयन भी, जिनकी प्रकृति धीरललित नायक की है, इस परिताप से मुक्त नहीं। मागंधिनी उनके हृदय में पद्मावती के प्रति शंका और सन्देह का जो बीज बो देती है, वह वट-वृक्ष बनकर उन्हें सालने लगता है और एक समय तो ऐसा भी आता है कि जब प्रतिशोध और प्रतिहिंसा उन्हें पद्मावती की हत्या के लिए विवश कर देते हैं, पर संयोगवश वह बच जाती है। 'अन्तःपुर का छिद्र' में शृंगार की अन्तर्व्याप्ति को देखते हुए यद्यपि डॉ० नगेन्द्र का यह कथन अन्यथा प्रतीत नहीं होता कि भाव-नाट्य का मुख्य रस शृंगार होता है[1] तथापि इसकी अन्तिम परिणति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि रस-विधान की दृष्टि से यहाँ स्थिति थोड़ी भिन्न हो गयी है। इस नाटक का अंगी भक्ति है—अधिक-से-अधिक इसे माधुर्य भक्ति रस कह सकते हैं। शृंगार की स्थिति यहाँ अंगरूप में ही है, अतः अन्त में उदात्तीकृत होकर वह भक्ति रस में परिणत हो गया है। यों, नाटक के प्रारम्भिक संकेतों के आधार पर यह मानना उचित न होगा कि पद्मावती का अमिताभ के प्रति आकर्षण मात्र रतिज ही है, भक्ति-भाव प्रेरित नहीं। वस्तुतः उसके आकर्षण के मूल में ये दोनों ही भाव हैं, पर अन्ततः रति का परिष्कार कर वह अपने हृदय में मात्र भक्ति की ही प्रतिष्ठा करती है और इस प्रकार नाटक की अन्तिम परिणति भक्ति रस में होती है, शृंगार में नहीं, फलतः वही इस नाटक का अंगी है।

शृंगार रस के अतिरिक्त 'अन्तःपुर का छिद्र' में कतिपय भावों की भी अंग-रूप में योजना है। इनमें प्रमुख हैं ईर्ष्या, करुणा, भय और वैचारिक जुगुप्सा। ईर्ष्या की समुपस्थिति शृंगार के अंग-रूप में है। मागंधिनी के संलापों और कार्य-व्यापार में वह नितान्त स्फुट है। एक स्थल पर वह महाराज उदयन से कहती है: 'मेरे ही आने से पद्मावती चली गई। वह महाराज के प्रेम में मेरा अधिकार नहीं देख सकती। उसके

१. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ८४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

द्वारा महाराज की ऐसी अवज्ञा मुझे भी सहन न हो ।'[1] उसका यह संलाप उसके ईर्ष्या-भाव को अव्यक्त नहीं रहने देता—यहाँ तक कि महाराज उदयन भी उसके भाव को भाँप जाते हैं और उसे इससे मुक्त होने को कहते हैं[2] पर वह इसे पुष्पित-पल्लवित कर वत्सराज के मन में संशय-वीज डालकर भी मौन नहीं वैठे रहना चाहती : 'वत्सराज कुछ भी कहें, पर उनके मन में संशय-वीज पड़ चुका है। वह अंकुरित हो जाए। क्या मेरी तिरस्कृत आँखें अविराम धारा न वहा सकेंगी ? मैं रक्त के आँसू वहाकर भी इसे सींचूंगी। मेरे दोनों हाथों की छत्रच्छाया इसे तुषार से रक्षित करे।'[3] उसकी यह ईर्ष्या-वृत्ति अन्ततः उसी की मृत्यु का कारण वनती है। महाराज के संशय-बीज को पुष्पित-पल्लवित करने के लिए वह जो मन्त्र-मूर्च्छित सर्प मालिन से मंगवाती है, अन्ततः वह उसे डँस लेता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। मागंधिनी की दुरभिसंधियाँ और षड्-यन्त्र सामाजिक की वैचारिक जुगुप्सा को उद्‌बुद्ध करते हैं तो हस्तीस्कंध वीणा के छिद्र में उसका सर्प को डालना भय को : 'जो छिद्र पद्मावती ने राजमहल में किया है, वही इस वीणा में भी है। इसी राह से उस सर्प को वीणा में रख दूंगी। (वीणा रखकर पुष्प की डलिया उठा लाती है।) यदि यह जाग उठा हो, और मेरी उंगली काट ले, तो ?—अव भय की आवश्यकता क्यों होगी ? (सावधानी से एक हाथ से डलिया के ऊपरी फूल एक ओर करती है।) कराल काल का विषधर ! चुपचाप पड़ा सो रहा है। मैं अपने मार्ग के कंटक दूर करने के लिए जीवित-जागरित सर्प को भी उठा लूंगी। यह यह तो मन्त्रों से बंधा हुआ रज्जुवत् है।'[4] सर्प के काटने से मागंधिनी की मृत्यु से मालिन के भय का चित्रण भी नाटककार ने किया है[5] और अन्तःपुर की प्राचीर में छिद्र करने वाली पद्मावती के भय का भी।[6] बौद्धकालीन पृष्ठभूमि पर लिखित इस नाटक में मौन करुणा का भाव तो आद्यन्त है ही। नाटक का प्रारम्भ जिस समवेत गति से हुआ है[7] उसकी मूल चेतना करुणा की ही है। मागंधिनी की मृत्यु से भी करुणा का भाव सामाजिक के हृदय में उद्‌बुद्ध होता है, पर उसकी दुष्टता के कारण वह करुणा-भास में परिणत हो जाता है। नाटक के सभी प्रमुख पात्रों की विडम्बित स्थिति से भी सहृदय के हृदय में करुणा तो उद्‌बुद्ध होती है पर वह करुण रस में निष्पन्न नहीं हो पाती।

निष्कर्षतः 'अन्तःपुर का छिद्र' आद्यन्त एक सरस नाट्य-सृष्टि है। इसमें रस-

---

१. अन्तःपुर का छिद्र, पृ० ३०
२. वही, पृ० ३०
३. वहीं, पृ० ४५
४. वही, पृ० ६४
५. वही, पृ० ७८
६. वही, पृ० १४, ३७
७. वही, पृ० ६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भावों का जो सुन्दर विधान है वह मनोविज्ञान-सम्मत होने से और भी कमनीय हो गया है।

शशिगुप्त : सेठ गोविन्द दास

सेठ गोविन्ददास के ऐतिहासिक नाटक 'शशिगुप्त' (सन् १९४२ ई०) में यूनान-सम्राट् सिकन्दर के भारत पर आक्रमण, अश्वकों के सरदार शशिगुप्त द्वारा उसके प्रतिरोध, आम्भीक के देशद्रोह, चाणक्य के निर्देश पर कूटनीति के रूप में शशिगुप्त द्वारा अलक्षेन्द्र के क्षत्रप बनने, पंचनद नरेश पर्वतक पर सिकन्दर के आक्रमण, पराजय और मैत्री, पर्वतक के सहयोग से सिकन्दर द्वारा मगध पर आक्रमण की योजना बनाने, चाणक्य की कूटनीति और प्रयत्नों से इस योजना के विफल होने और मगध पर आक्रमण, किए बिना ही सिकन्दर के सिन्ध और मकरान के मार्ग से लौट जाने, शशिगुप्त द्वारा विद्रोह कर यूनानी सैनिकों को खदेड़ने, मार्ग में ही सिकन्दर के मरने, नन्द की विलासिता, चाणक्य की दूरदर्शिता और कूटनीति से नन्द और पर्वतेश्वर की मृत्यु, शशिगुप्त के भारत-सम्राट् बनने और चन्द्रगुप्त नाम धरने, भारत पर सेल्यूकस के आक्रमण, चन्द्रगुप्त से पराजय और हेलन से चन्द्रगुप्त के विवाह का चित्रण है।

इस नाटक की कथावस्तु नवीन ऐतिहासिक खोजों के आधार पर विनिर्मित है। इसमें चाणक्य की दूरदर्शिता और राष्ट्र-भक्ति देखते ही बनती है। वह न तो क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थ-भावना से परिचालित है, न प्रतिशोध-ग्रन्थि से ही। उसकी मूल प्रेरणा-भूमि है देश-प्रेम, जिसमें 'प्रेम ही नहीं, श्रद्धा भी है; निजता की स्वीकृति भी है और आत्म-केन्द्र की परिधि का विस्तार भी।'[1] शशिगुप्त भी उसी के समान देश-भक्त और निःस्वार्थ है, साथ ही अप्रतिम वीर भी। चाणक्य और शशिगुप्त एक-दूसरे से पूर्व परिचित हैं, उनका एक-दूसरे पर विश्वास है। इतना ही नहीं, शशिगुप्त चाणक्य को श्रद्धेय गुरु मानकर उसके निर्देशों का पालन करता है। चाणक्य की निगाह भी शशिगुप्त पर है, फलतः वह उसे अपने उद्देश्य की सिद्धि का अंग बनाता है। चाणक्य की सारी योजनाएँ और शशिगुप्त के सारे क्रिया-कलाप जिस भावना से परिचालित हैं, उसे देश-प्रेम के अलावा और कुछ कहा ही नहीं जा सकता। नाटक के प्रारम्भ में, चाणक्य शशिगुप्त से कहता है :'....'भारत के भी समस्त नरपति-गण तथा गणतन्त्र यदि एक हो जाएँ तो इसके तेज के सम्मुख यवन। (फिर कुछ रुककर) ओह ! एक यवन ही क्या यदि संसार के समस्त राष्ट्र भी इस पर आक्रमण करें तो उनकी वही दशा होगी जो चमकते हुए दीप पर पतंगों की, जो प्रज्ज्वलित दव पर रिमझिम बरसने वाली बूंदों की, जो जागृत ज्वालामुखी पर ओलों की।'[2] चाणक्य के इस कथन में ही नाटक का बीज है। उसका लक्ष्य समग्र भारत को एकता के सूत्र में पिरोना, जन्म-भूमि के परतन्त्र

---

१. आधुनिक युग में नवीन रसों की परिकल्पना, डॉ० सुन्दरलाल कथूरिया, पृष्ठ ६०
२. शशिगुप्त, पृ० ३२-३३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

भागों को स्वतन्त्र कराना, देश में एक साम्राज्य की स्थापना करना[1] और उसे इतना शक्तिशाली बनाना है कि संसार का कोई भी देश उस पर आक्रमण न कर सके, उसके सामने मस्तक न उठा सके—और अन्ततः, वह अपने इस लक्ष्य में सफल होता है।

'शशिगुप्त' का अंगी रस विवाद्य हो सकता है। देशभक्ति को स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकृति न देने वाले परम्परावादी आलोचक वीर रस को इस नाटक का अंगी मान सकते हैं, किन्तु तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर इसमें सन्देह नहीं रहता कि देश-भक्ति रस ही इसका अंगी है। स्पष्टतः इसका कारण यह है कि नाटक के सभी प्रमुख पात्र देश-प्रेम के भाव से परिचालित हैं और राष्ट्रीयता की अन्तःधारा समग्र कृति में परिव्याप्त है। निःसन्देह इस नाटक की सप्राणता का रहस्य राष्ट्रीय-चेतना की सम्पन्नता में निहित है—और कुछ आलोचकों ने इसका उल्लेख किया भी है।[2] उत्साह स्थायिभावात्मक वीर की इतिकर्तव्यता इसके अंग-रूप में ही है।

'शशिगुप्त' में देशभक्ति का व्यापक स्वरूप परिगृहीत हुआ है। उत्साह, क्रोध, शृंगार आदि यहाँ देशभक्ति का अंग बनकर आये हैं और उस सन्दर्भ से जुड़ने में ही इन भावों की सार्थकता है। चाणक्य, शशिगुप्त आदि के मन में आक्रान्ता यवनों के प्रति आक्रोश है। वे मातृ-भूमि की प्राणपण से रक्षा करना चाहते हैं। शशिगुप्त कहता है: 'विदेशी इस पवित्र भूमि को पददलित करें और हम चुपचाप देखते रहें। हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण हो और हम हिलें-डुलें तक नहीं, यह तो कल्पना के बाहर की स्थिति है।'[3] उसके इस कथन में मातृ-भूमि के प्रति प्रेम, साम्राज्यवादी आक्रान्ताओं के प्रति आक्रोश और विद्रोह तथा उन्हें देश से निकालकर बाहर करने का उत्साह मिलकर एकाकार हो गये हैं और इनके मूल में निश्चय ही देश-प्रेम का भाव है। चाणक्य देशानुराग से परिचालित होकर न केवल शशिगुप्त, पर्वतक, शकटार आदि को ही कर्तव्य के लिए प्रेरित करता है वरन् जन-जन के उद्बोधन की आवश्यकता का अनुभव करते हुए सैनिक से कहता है: 'देखो, सैनिक, तुम भारतीय हो। आर्यावर्त की गौरव-रक्षा का उत्तरदायित्व केवल यहाँ के नरेशों पर नहीं, एक-एक व्यक्ति पर है। किसी भी साधन द्वारा विदेशियों को देश से बाहर कर देना, उनके एक-एक चिह्न तक का यहाँ नाश कर डालना, यह तुम सब का 'प्रथम कर्तव्य, परम धर्म' है। शशिगुप्त का उत्तरापथ का कार्य तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक तुम यहाँ से भी शत्रुओं के पैर न उखाड़ दो।'[4] चाणक्य आक्रामक शक्तियों का विरोध साम, दाम, दण्ड, भेद के सभी उपायों से करता है। परिस्थिति के अनुसार वह कभी तो शशिगुप्त को अलक्षेन्द्र का क्षत्रप बनने का निर्देश देता है और कभी विद्रोह करने का, कभी

---

१. शशिगुप्त, पृ० ६१
२. द्रष्टव्य—हिन्दी नाटक : सिद्धांत और विवेचन, डॉ० गिरीश रस्तोगी, पृ० २८६
३. शशिगुप्त, पृ० ३५
४. देखिए, वही, पृ० ६२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

पर्वतक की देशभक्ति को उद्‌बुद्ध कर उसे शशिगुप्त का सहायक बना लेता है तो अवसर आने पर विषकन्या द्वारा उसकी हत्या भी करवा डालता है, कभी शकटार द्वारा राक्षस को चेताने का प्रयत्न करता है तो कभी उसे चन्द्रगुप्त का मन्त्री बना देता है, कभी शशिगुप्त को हेलन से प्रेम न करने का निर्देश देता है तो उचित समय पर उससे विवाह भी करवा देता है, कभी राक्षस के माध्यम से नन्द को चेताने का प्रयत्न करता है तो कभी उसे शकटार के हाथों मरवा भी डालता है—और उसकी ये सभी विरोधी प्रतीत होने वाली क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ निश्चय ही देश-भक्ति के उच्चादर्श से जुड़ी हैं। चाणक्य हर-एक की कमजोरियों को जानता है, दूरदर्शिता से काम लेता है और उचित अवसर पर अपनी योजनाओं को क्रियान्वित करता है, फलतः सफलता उसके चरण चूमती है। उसके सामने देश की वर्तमान दुर्दशा है, राष्ट्र का भावी स्वरूप है और उसकी संसिद्धि के लिए सभी से यथावसर काम लेने का संकल्प है। समय आने पर, पर्वतक की महत्त्वाकांक्षा का लाभ उठाते हुए वह उसे राष्ट्रीय अखंडता के महत्त्वपूर्ण आयोजन का अंग बना लेता है और उससे कहता है : 'आप अच्छी प्रकार सोच लें, महाराज; विदेशियों के भविष्य के आक्रमण का सामना बिना इस आयोजन के एक असंभव कल्पना है। यदि हम इस आयोजन में सफल हुए तो हमारे देश का स्थान संसार में सर्वोच्च हो जाएगा। जो इस आयोजन को सफल बनावेंगे उनका नाम संसार के इतिहास में अजर अमर होकर रहेगा। और यदि यह आयोजन न हुआ तो हम विदेशियों का सामना ही न कर सकेंगे और यदि किया भी तो हमें सफलता न मिलेगी। देश शताब्दियों के लिए दासता की शृंखला में जकड़ जायगा। देशवासियों पर अभूतपूर्व अत्याचार होंगे। (कुछ ठहर कर) महाराज, इस भारतीय साम्राज्य की स्थापना आपके और शशिगुप्त के सहयोग से ही हो सकती है। मगध और गणतन्त्रों की पराजय के पश्चात् उस साम्राज्य का यदि कोई भी अधिपति, सारे भारत का यदि कोई भी चक्रवर्ती सम्राट हो सकता है, तो, आप।'[1] स्पष्टतः चाणक्य के इस संलाप में देश के भावी स्वरूप की कल्पना है। देश की स्वाधीनता की स्थिति में उसकी सम्मानजनक शक्तिमान स्थिति के प्रति गर्व है और दासता की स्थिति में देश की जनता पर होने वाले भावी अत्याचारों के प्रति चिन्ता। चाणक्य का यह कथन भूमि, भूमि पर बसने वाले व्यक्तियों और देश की संस्कृति से समवेत रूप से जुड़ा होने के कारण देश-भक्तिपूर्ण है। चाणक्य की दृष्टि में देश-भक्ति—राष्ट्रीय गौरव ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; उसके सामने व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं, पर सही व्यक्ति को पहचान कर देश के गौरव के लिए उसे गौरवान्वित करना आवश्यक होता है और उस महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को मार्ग से हटा देना ही श्रेयस्कर, कि जिसकी महत्त्वाकांक्षा कभी भी राष्ट्र-हित में आड़े आ सकती है। पर्वतक को मार्ग से हटा देने और शशिगुप्त को गौरवान्वित करने के पीछे चाणक्य का यही

१, शशिगुप्त, पृ० १०२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

लक्ष्य है।[1] वह जानता है कि राष्ट्र का वास्तविक निर्माण किनके द्वारा संभव है। राष्ट्र का यथार्थ निर्माण इतिहास के वे संस्मरण करते हैं जिनमें उस राष्ट्र के प्रमुख पुरुषों वा स्त्रियों के महान चरित्रों का वर्णन रहता है। यथार्थ में राष्ट्र उन थोड़े से पुरुषों या स्त्रियों में निवास करता है जो कुछ सोचने और कुछ करने की क्षमता रखते हैं।[2] चाणक्य के इस कथन में राष्ट्र के महापुरुषों का जयगान, उनके प्रति राग और श्रद्धा व्यंजित है, साथ ही यह भी कि शशिगुप्त ही उन थोड़े से व्यक्तियों में से एक है जो राष्ट्र के साथ तदाकारिता प्राप्त कर लेते हैं। शशिगुप्त की निःस्वार्थता, वीरता, साहसिकता, आदर्शवादिता, देशभक्ति और पूत-चरित्रता ही चाणक्य को इसके लिए विवश करती है कि वह उसे 'देश की रक्षा और देश के उत्कर्ष के लिए'[3] भारत सम्राट् बनाए। कहने की आवश्यकता नहीं कि चाणक्य के सभी क्रियाकलापों और उद्गारों के मूल में देश-प्रेम का स्थायी भाव है। यह भाव देश की दुर्दशा और यवनों के आक्रमण से उद्बुद्ध, जन के प्रति निजता और गौरव की भावना, अतीत-गौरव के स्तवन और अपनी भूमि की संस्कृति आदि से उद्दीप्त, धृति, मति, गर्व, आवेग, अमर्ष, स्मृति आदि से परिपुष्ट एवं शौर्य, त्याग, नैपुण्य, पुलक, चिन्ता आदि के द्वारा परिव्यक्त होकर देशभक्ति रस में परिणत हो गया है।

चाणक्य के समान शशिगुप्त भी महान् देशभक्त है। उसके सभी उत्साहपूर्ण आयोजनों के मूल में भी देश-प्रेम का भाव है, किन्तु वह दूर-दृष्टि और राष्ट्र के भावी स्वरूप की संकल्पना नहीं जो चाणक्य के पास है। वस्तुतः वह चाणक्य की योजना को मूर्त्त रूप देने का साधन है, अंग है; फलतः राज्य और नारी (हेलन)-प्राप्ति के बावजूद उसे नाटक का नायक मानने में कठिनाई होती है। स्थूल दृष्टि से देखने पर वह फल का भोक्ता दिखाई देता है, पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इसमें संदेह नहीं रहता कि वास्तविक फल का भोक्ता चाणक्य है। वह अपने लक्ष्य में सफल हुआ है, उसकी मनोकामना पूर्ण हुई है। देश विदेशियों के आक्रमण से ही मुक्त नहीं हुआ है, भावी आक्रमणों की दुश्चिन्ताओं से भी निश्चिन्त हो गया है और उसमें एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना भी हो गयी है—और इस प्रकार, चाणक्य के स्वप्न साकार हो गये हैं, उसकी आशाएँ-आकांक्षाएँ फलवती हुई हैं। राज्य या हेलन की प्राप्ति चाणक्य का उद्देश्य नहीं था। इन आनुषंगिक फलों का वास्तविक अधिकारी शशिगुप्त(चन्द्रगुप्त) ही है, जो चाणक्य के बाद नाटक का न केवल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र है, वरन् वीर योद्धा, आज्ञाकारी शिष्य और निःस्वार्थ देश-सेवक भी है। यह मानना भी उचित न होगा कि शशिगुप्त के सहयोग के बिना चाणक्य अपनी योजनाओं को क्रियान्वित न

---

१. देखिए—शशिगुप्त, पृ० १३२-३३

२. वही, पृ० १४०

३. वही, पृ० १३९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कर पाता। वस्तुतः 'चाणक्य अगणित शशिगुप्तों के निर्माण की क्षमता रखता है।'[1] नाटक की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वह नियामक है, फिर चाहे वह घटना चन्द्रगुप्त के अलक्षेन्द्र का क्षत्रप बनने की हो, चाहे पर्वतक को अपनी ओर मिलाने की, चाहे सैनिकों के विद्रोह की, चाहे शकटार द्वारा प्रवंतक को मरवाने या नन्द को मारने की, चाहे शशिगुप्त के विद्रोह या उसके सम्राट् बनने की और चाहे हेलन से विवाह की। जिस प्रकार भारत के राष्ट्रपति या प्रधान-मन्त्री का पद-ग्रहण न करने पर भी महात्मा गाँधी राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के नायक हैं, जिस प्रकार इन्हीं पदों का त्याग करने पर भी समग्र क्रांति और दूसरी आजादी के सूत्रधार बाबू जयप्रकाश नारायण लोक-नायक हैं, उसी प्रकार किसी पद—सम्राट्, महामन्त्री, मन्त्री आदि— को स्वीकार न करने पर भी चाणक्य 'शशिगुप्त' का नायक है। भारत जैसे त्यागियों के देश में उन राष्ट्रनायकों की कमी नहीं कि जो अपने लिए कुछ नहीं चाहते, कि जिनका एकमात्र लक्ष्य राष्ट्रीय विपत्तियों का निराकरण होता है और जो उस लक्ष्य की सिद्धि के बाद रंगमंच से हट जाते हैं। ऐसे नायकों के सन्दर्भ में फलागम भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति में न खोज कर उस बृहत्तर लक्ष्य की सिद्धि में खोजना चाहिए कि जिसके लिए उन्होंने अपना जीवन होम दिया होता है। रूढ़ शास्त्रीय दृष्टि से हटकर, नायक की परंपरित अवधारणा में इतना तो जोड़ना ही होगा। और इस दृष्टि से विचार करने पर, इसमें सन्देह नहीं रहता कि चाणक्य 'शशिगुप्त' का नायक है और शशिगुप्त उसकी लक्ष्य-सिद्धि का प्रधान सहायक; साथ ही अपने गुरु के समान महान् देश-भक्त भी। नाटक में, उसकी देश-भक्ति की स्वीकृति चाणक्य के कथनों में यत्र-तत्र की गयी है। भारतीय पात्रों में शकटार को भी देश-भक्त दिखाया गया है—चाणक्य के ही भावों का उद्घोषक; और प्रर्वतक के अहम् की सन्तुष्टि भी उसे बार-बार देश-भक्त कह कर ही की गयी है। शकटार राक्षस को स्वामि-भक्ति के स्थान पर देश-भक्ति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हुए कहता है: 'समष्टि के सम्मुख व्यक्ति का कोई स्थान रहीं, चाहे वह व्यक्ति कोई भी क्यों न हो। देश-भक्ति के सम्मुख व्यक्ति-भक्ति का कोई महत्त्व नहीं, चाहे वह व्यक्ति कोई भी क्यों न हो।'[2] नाटक में वीरभद्र की परिकल्पना भी एक ऐसे नायक के रूप में की गयी है कि जो 'देशद्रोहियों को देशप्रेमी बना'[3] देता है।

'शशिगुप्त' के प्रतिनिधि भारतीय पात्रों में ही नहीं, यूनानी पात्रों में भी देश-प्रेम और देश-भक्ति का भाव है। सिकन्दर के प्रधान सेनापति सिल्यूकस की सुपुत्री हेलन में—जिसे भविष्य में भारत-सम्राज्ञी बनना है—तो यह भाव कूट-कूट कर भरा है। प्रथम दृष्टि में चन्द्रगुप्त से प्रेम हो जाने पर भी वह उसे देशद्रोही समझ उससे घृणा करने लगती है। सिल्यूकस उसकी देश-भक्ति को उभार कर शशिगुप्त से विवाह

१. शशिगुप्त, पृ० १३६
२. वही, पृ० १२६
३. वही, पृ० १०६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

के निर्णय पर जब उसे पुनर्विचार करने को कहता है तो वह अपना निर्णय बदल देती है और धीरे-धीरे सिर उठाते हुए भर्राये स्वर में कहती है : 'आप ठीक कहते हैं, पिताजी, देशभक्त देशद्रोही से विवाह नहीं कर सकता। स्वर्ग और नरक का सम्बन्ध नहीं हो सकता। पूर्णिमा और अमावस में प्रेम सम्भव नहीं। दिन और रात का सम्बन्ध कैसा ? मैं देशभक्त, शशिगुप्त देशद्रोही। आकाश और पाताल कैसे मिल सकते हैं ?··· (घृणा से) शशिगुप्त प्रेम का पात्र नहीं, घृणा की वस्तु है शशि···।'[1] परन्तु जैसे ही उसे सूचना मिलती है कि शशिगुप्त ने सिकन्दर के विरुद्ध विद्रोह किया है, वह देशद्रोही नहीं, देशभक्त है, वह उससे अपने विवाह के पूर्व-निर्णय पर स्थिर हो जाती है और अपनी तार्किकता से अपने पिता को निरुत्तर कर देती है।[2] सिकन्दर पर्वतक से अपने देश की सांस्कृतिक विरासत की जो प्रशंसा करता है,[3] उससे उसका देश-प्रेम भी व्यंजित हुए बिना नहीं रहता।

इस नाटक में देशभक्ति का पोषण शशिगुप्त के उत्साहपूर्ण आयोजनों से हुआ है। वह उद्भट योद्धा और अप्रतिम वीर है। नाटक के प्रारंभ में ही वह चाणक्य से कहता है, 'आर्य, मेरे अश्वक ही यथेष्ट हैं। आप जानते हैं अभी भी वही अलक्षेन्द्र को रोक रहे हैं। आपके आशीर्वाद और आज्ञा से मैं अपने अश्वकों की सहायता से ही पहले तक्षशिला के देशद्रोही राजा आंभीक को समाप्त करूँगा और फिर यवनों की इस बाढ़ को उत्तरापथ में ही रोक दूँगा; इतना ही नहीं, गुरुदेव, उन्हें मैं यूनान तक खदेड़ सकता हूँ।'[4] उसका यह कथन उसके अदम्य उत्साह, वीरत्व और आत्म-विश्वास का व्यंजक है। उसके इस आवेग-प्राण उत्साह को चाणक्य देश का वास्ता देकर संयमित करता है, क्योंकि 'विदेशी और गृह-शत्रु दोनों से एक साथ युद्ध नहीं ठाना जा सकता।'[5] यों चाणक्य यह जानता और मानता है कि इस समय आर्यावर्त में शशिगुप्त से अधिक वीर, उससे अधिक साहसी, उससे अधिक आदर्शवादी, उससे अधिक देशभक्त, उससे अधिक शुद्ध अन्तःकरण और आचरण वाला और कोई व्यक्ति नहीं है।[6] चाणक्य के आदेश का उल्लंघन न कर पाने के कारण शशिगुप्त अलक्षेन्द्र का क्षत्रप बनना स्वीकार तो कर लेता है, पर उसकी अन्तरात्मा भीतर ही भीतर कसमसाती रहती है। तक्षशिला के सभागार में सिकन्दर के इस वक्तव्य के बाद कि पंचनद-नरेश पर्वतक ने उसकी दासता स्वीकार न कर उसे अत्यन्त अपमानजनक उत्तर भेजा है, जब अधिकतर सभासद धिक्कार है, चिल्लाने लगते हैं तो शशिगुप्त का हाथ स्वतः अपने खंग की मूठ पर

---

१. देखिए—शशिगुप्त, पृ० ५३-५४
२. वही, पृ० ९७-९९
३. वही, पृ० ७६
४. वही, पृ० ३३
५. वही पृ० ३४
६. वही पृ० ३७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

चला जाता है।[1] यह भी उसके स्वाभिमान, वीरत्व और देशभक्ति का द्योतक है। और जब चाणक्य शशिगुप्त को उत्तरापथ के विद्रोह का संचालन करने का निर्देश देता है तो उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहता। उस समय उसका उत्साह देखते ही बनता है।[2] विद्रोही शशिगुप्त अपनी वीरता से सिल्यूकस को पराजित कर देता है, पर हेलन के बीच में आ जाने से उसे मारता नहीं, छोड़ देता है।[3] यहाँ वह युद्धवीर के रूप में ही नहीं, दयावीर के रूप में भी सामाजिकों के सामने आता है। और अन्त में, जब शशिगुप्त चन्द्रगुप्त के नाम से भारत-सम्राट् बनता है और सिल्यूकस भारत पर आक्रमण करता है जो चन्द्रगुप्त देशद्रोही आंभीक को मौत के घाट उतार, सिल्यूकस को पुनः पराजित कर अपनी वीरता की धाक जमा लेता है। शशिगुप्त (चन्द्रगुप्त) का उत्साह, जो यूनानी आक्रान्ताओं के आक्रमण से उद्बुद्ध और उनके पराक्रम, प्रभाव आदि से उद्दीप्त हुआ है, धृति, मति, गर्व, आवेग, स्मृति, अमर्ष आदि से पुष्ट और धैर्य, स्थैर्य, शौर्य, त्याग, नैपुण्य आदि से परिव्यक्त होकर वीर रस में निष्पन्न हो गया है। शशिगुप्त के शौर्य-कर्मों को, उत्साहपूर्ण आयोजनों को सहृदय बड़ी उत्कण्ठा से देखते हैं और कार्य-शिष्पत्ति पर पूर्णकाम हो जाते हैं। उसके कर्म-सौन्दर्य पर वे मुग्ध होते हैं और उसके साथ उनका पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। वीर रस का आश्रय है चन्द्रगुप्त और आलम्बन है शत्रु-पक्ष—सिकन्दर, सिल्यूकस, देशद्रोही आंभीक आदि। 'वीर रस के लिए किसी असाधारण कर्म का होना आवश्यक है। आश्रय में किसी कर्म को पूरा करने की अपेक्षित शक्ति हो चाहे न हो, सहृदय जब आश्रय को उस असाधारण कर्म में हृदय से प्रवृत्त होते देखता है तब उसे वीर रस का आस्वाद होता है।'[4] यहाँ तो आश्रय शशिगुप्त में वह शक्ति भी है। विदेशी आक्रांताओं से भारत की मुक्ति जैसे असाधरण कर्म में वह प्राण-पण से संलग्न है। तब भला सहृदय को वीर-रस की अनुभूति क्योंकर न होगी? वह निश्चय ही इस रस का आस्वादन करता है। पर पूरे नाटक में यह अंग-रूप में अनुस्यूत है, अंगी-रूप में नहीं। प्रधानता और व्याप्ति के आधार पर इस नाटक का अंगी तो देशभक्ति रस ही है।

वीर रस के समान 'शशिगुप्त' में श्रृंगार रस की योजना भी अंग-रूप में ही है। अनुभाव-विधान के द्वारा, तक्षशिला के सभागार में, हेलन और शशिगुप्त का प्रथम दृष्टि में प्रेम व्यंजित है: आसंदी पर बैठते-बैठते शशिगुप्त को देख वह कुछ ठिठक-सी जाती है। शशिगुप्त भी उसे एकटक देखने लगता है।[5] उनका यह पारस्पारिक आकर्षण, जो रतिज है, चाणक्य की दृष्टि से छिपा नहीं रहता। चाणक्य शशिगुप्त को इस

१. शशिगुप्त, पृ० ५०
२. वही, पृ० ७५
३. वही, पृ० ११४
४. वीर रस का शास्त्रीय विवेचन, बटेकृष्ण, पृ० १७
५. शशिगुप्त पृ० ४७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रेम को देश-प्रेम की वलिदेवी पर न्यौछावर करने का आदेश देते हुए कहता है : 'तुम्हें इस प्रेम की देश की स्वतंत्रता के यज्ञ में आहुति देनी होगी । इस यज्ञ में दीक्षित, इस महान् अनुष्ठान का संकल्प लेने के पश्चात् तुम यवनों को प्रेम की दृष्टि से देख ही नहीं सकते । प्रत्येक यवन तुम्हारे लिये घृणा की वस्तु है । जितनी तुम अलक्षेन्द्र से घृणा करते हो उतनी ही हरेक यवन से करो; हेलन से भी; उसे तो विष कन्या मानो । उसके पिता सिल्यूकस को भी घृणित समझो ।'[1] पर यह आदेश शशिगुप्त को एक सीमा तक ही रोक पाता है । हेलन की उपस्थिति में उसकी कोमल भावनाएँ उसे घेर लेती हैं । वह हाथ में आए शत्रु, हेलन के पिता, सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस को मार नहीं पाता और मंत्र-मुग्ध की भांति खड़ा रहता है ।[2] कालान्तर में, इसी के कारण उसे चाणक्य के व्यंग्य-बाणों से विद्ध भी होना पड़ता है ।[3] पर जब-जब भी उसके सामने हेलन का नाम लिया जाता है. उसकी प्रेमिल मानसिकता छिपाये नहीं छिपती । निःश्वास, मुख-वैवर्ण्य आदि उसकी मनोदशा को व्यक्त कर देते हैं । नाटक में जहाँ शशिगुप्त के प्रति हेलन का प्रेम मुखर है, वहाँ हेलन के प्रति शशिगुप्त का मौन, किन्तु और भी गम्भीर । पाँचवें अंक के चौथे दृश्य में चन्द्रगुप्त और हेलन के वार्तालाप से तो चन्द्रगुप्त का उसके प्रति आकर्षण नितान्त स्पष्ट है ।[4] अन्त में उनके विवाह से उनके प्रेम को अन्तिम परिणति मिली है, अतः नाटक में शृंगार की सत्ता निन्तात स्पष्ट है, किन्तु इसकी भी इतिकर्त्तव्यता देश-भक्ति में ही है । चाणक्य के शब्दों में, 'यह विवाह राजकुमारी हेलन और सम्राट् चन्द्रगुप्त का नहीं, बल्कि पूर्व और पश्चिम का होगा; इन दो दिशाओं में सबसे महान् दो राष्ट्रों का होगा ।'[5] कहने की आवश्यकता नहीं कि इस नाटक में इस विवाह की, शशिगुप्त और हेलन के प्रेम की योजना भारत की शक्तिमत्ता, अखण्डता और संभावित भावी आक्रमणों से मुक्ति के उद्देश्य से ही की गयी है ।

'शशिगुप्त' में कहीं-कहीं अंग-रस के रूप में हास्य, वीभत्स आदि रसों की भी योजना है । यूनानी सैनिकों का पारस्परिक वार्तालाप सामाजिक के हास्य को उद्बुद्ध करता है : यहाँ एक विचित्र जाति की चींटियाँ होती हैं । वे कुत्तों के बराबर होती हैं और पृथ्वी के भीतर घुस कर सोने की रेत लाती हैं ।[6] नन्द के मूर्खतापूर्ण कथनों में भी हास्य का परिपाक हुआ है ।[7] एक दो स्थलों पर, नाटक में, वीभत्स रस का भी विधान है । एक दृश्य देखिए : यत्र-तत्र कई मृत शरीर पड़े हैं, किसी का सिर नही है, किसी

---

१. शशिगुप्त, पृ० ६१
२. वही, पृ० ११४
३. वही, पृ० १३५
४. वही, पृ० १५१-५३
५. वही, पृ० १५५
६. वही, पृ० ३१
७. वही, पृ० ६४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की दोनों भुजाएँ कटी हैं, किसी की एक, किसी के दोनों पैर कट गये हैं, किसी का एक, अनेक सिर, भुजाएँ, पैर आदि कटे पड़े हैं। कुछ मरे घोड़े भी दिखाई देते हैं। घोड़ों के कुछ कटे अंग भी दृष्टिगोचर होते हैं।[1] जहाँ हेलन देशद्रोह के कारण आंभीक और शशिगुप्त के प्रति वितृष्णा व्यक्त करती है[2] वहाँ सामाजिक की वैचारिक जुगुप्सा उद्‌बद्ध होती है। हेलन के अनेक कथन और क्रिया-कलाप दर्शक-पाठक में विस्मय और हास्य का संचार करते हैं।[3] एक-दो स्थलों पर शोक, भय आदि भावों की उद्‌बुद्धि से भावों का भी इस नाटक में सुन्दर विधान है।[4] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'शशिगुप्त' में अनेक रसों और भावों का सुन्दर विधान है। इस नाटक में अंगी के रूप में देश-भक्ति रस की सांगोपांग योजना की गयी है--अन्य रसों या भावों का विधान इसी के अंग रूप में हुआ है। निश्चय ही 'शशिगुप्त' देशभक्ति रस का एक अविस्मरणीय नाटक है।

अन्नदाता माधव महाराज महान : पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के नाटक 'अन्नदाता माधव महाराज महान' (सन् १९४३ ई०)[5] का कथानक इतिहासाश्रित है। माधव महाराज, नाना (जनरल नाना-साहब सिंदे, बड़ौदे) और रामजीदास वैश्य इस नाटक के ऐतिहासिक पात्र हैं[6] तथा धनिकलाल, कस्तूरी, दामोदर, गोविन्दशंकर आदि शेष सभी काल्पनिक। प्रस्तुत नाटक का लेखन अत्यधिक परिश्रम के बाद संभव हुआ है। नाटककार के शब्दों में, 'जितना पढ़कर, जितनी सावधानी से मुझे यह नाटक रचना पड़ा है, उतना परिश्रम दूसरे एक पर भी नहीं पड़ा था।'[7]

नाटक आकार में लघु और तीन अंकों में विभाजित है। प्रत्येक अंक में एक-एक दृश्य है।[8] इस दृष्टि से नाटक का मंचन कठिन प्रतीत नहीं होता। यों, नाटक का कथानक सुगठित नहीं है और तीसरा अंक पहले दो अंकों से अलग-थलग, उखड़ा-उखड़ा और आरोपित प्रतीत होता है। लगता है, नाटक को दुःखांत बनाने के लिए ही इस अंक की योजना की गयी है। यह अंक नाटक के स्वाभाविक विकास के भी कुछ विरुद्ध पड़ता है।

स्थूलतः इस नाटक का उद्देश्य माधव महाराज के उदात्त चरित्र का आख्यान

---

१. शशिगुप्त, पृ० ६९
२. वही, पृ० ४३
३. वही, पृ० ४२
४. वही, पृ० ६६, १२४
५. नाटक पर संस्करण-वर्ष मुद्रित नहीं है। किन्तु इसकी 'आवश्यक' शीर्षक भूमिका ४ मई, १९४३ ई० की है। डॉ० दशरथ ओझा ने भी इसे १९४३ ई० का माना है।
देखें 'हिन्दी नाटककार', पृ० २१
६. दे० अन्नदाता माधव महाराज महान, 'आवश्यक' शीर्षक भूमिका, पृ० अमुद्रित
७. वही, पृ० अमुद्रित
८. डॉ० दशरथ ओझा ने अपने 'हिन्दी नाटक-कोश' में न जाने किस आधार पर इस नाटक के प्रत्येक अंक में ९-९ दृश्यों का उल्लेख किया है। (दे० हिन्दी नाटक-कोश, पृ० २१)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

है। वे नाटक के नायक हैं और दीन-दुखियों के प्रति उनकी सहानुभूति, उदारता, न्याय-प्रियता, प्रजा-वत्सलता और दूरदर्शिता इसमें व्यंजित है। माधव महाराज का चरित्र तत्कालीन समस्याओं—पटवारियों-जमींदारों की लूट-खसोट, सूदखोरी, नारी-जीवन की दुर्दशा आदि—के बीच से उभारा गया है। नाटक का प्रारम्भ, विकास और अन्त इन्हीं समस्याओं से हुआ है, अतः कथा-विधान की दृष्टि से ऐतिहासिक होने पर भी इस दृष्टि से यह नाटक मूलतः समस्यामूलक है। इस नाटक में सरकारी तंत्र के बीच पिसते निर्धन-वर्ग का कच्चा चिट्ठा खोला गया है।

'अन्नदाता माधव महाराज महान' में मास्टर धनिकलाल जहाँ निर्धन-वर्ग का प्रतीक है, वहाँ पटवारी दामोदर सरकारी तंत्र का प्रतीक है। सच्चे मन से चाहने पर भी माधव महाराज मास्टर धनिकलाल और कस्तूरी के जीवन की त्रासदी को रोकने में असफल रह जाते हैं और इस प्रकार दो निर्धन किन्तु ईमानदार और धर्म-प्राण प्राणी अपने जीवन से हाथ धो बैठते हैं। जीवन-भर तो वे पटवारियों-जमींदारों के चंगुल में पिसते ही हैं, उनका अन्त भी कारुणिक है।

नाटक का समग्र प्रभाव त्रास और करुणा का है। निर्धन मास्टर धनिकलाल के प्रति पटवारी दामोदर और जमींदार का, विशेषकर पटवारी का व्यवहार अपमान-जनक है। शेष ग्रामीण भी उनसे आतंकित हैं।[१] मास्टर के प्रति सहृदयों के मन में करुणा और सहानुभूति का भाव जगता है। नाटक में दामोदर पटवारी की उपस्थिति खलनाक के रूप में है। वही सारी खुराफ़ातों की जड़ है। उसकी निगाह कस्तूरी पर है, जबकि उसकी सगाई जमींदार के नालायक लड़के रामशंकर से हो चुकी है। पटवारी की दुष्टता, धृष्टता, कुकृत्यों और अत्याचारों के प्रति सामाजिकों के मन में वैचारिक जुगुप्सा और क्षोभ उत्पन्न होता है। ग्रामीणों की दयनीय दशा और पटवारी आदि के उनके प्रति किये गये दुर्व्यवहार से तो पाठकों के मन में करुणा जगती ही है, रामशंकर द्वारा औरत के लिए उसके यार के खून करने[२], विवाह-मण्डप पर लम्बे छुरे से रामशंकर की हत्या होने[३], एक मोटर गाड़ी से टकराकर मास्टर धनिकलाल की मृत्यु होने[४] और विषपान द्वारा कस्तूरी की आत्महत्या[५] जैसे प्रसंगों से गहरा कर यह करुण रस में निष्पन्न हो जाती है, साथ ही त्रास का भाव भी उद्बुद्ध होता है। नारी-जीवन की करुण-दशा कस्तूरी के इन शब्दों में व्यक्त हो गयी है : "बरसों से मुझे—मुझ पढ़ी-लिखी और दादा जी के पुण्य-प्रेम से पोषित लड़की को—सारा समाज मुँह भर-भर कर

---

१. गरीब—ये गहने लो अपने आदमियों को रोको ! तुम्हारे रुपये के लिए वे मेरी बहू को पकड़े लिए जा रहे है।—अन्नदाता माधव महाराज महान, पृ० ३५

२. वही, पृ० ६७

३. वही, पृ० ८६

४. वही, पृ० ६४

५. वही, पृ० ६१, ६५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

गालियाँ दे रहा है—जब वह विधवा के साथ भागा तो मैं अभागिन पुकारी गयी, जब उसने खून किया तो मैं भुतनी—जिसके सबब दिमाग खराब हो जाय और अब—अब सारा महादपुर मेरे नाम की छाया से काँपता है। मैं पूछती हूँ सरकार ! इसमें मेरा अपराध ? यही न कि मैं औरत हूँ ? मैं इस चोले से नफरत करती हूँ...।'[1] कस्तूरी का दादा को लिखा गया पत्र भी नारी की सामाजिक विसंगत स्थिति, उसके जीवन की विवशता और दयनीयता को ही व्यंजित करता है।[2]

अंग-रस के रूप में, इस नाटक में वीर-रस की योजना सर्वाधिक सशक्त रूप में है। नाटककार ने माधव महाराज को युद्धवीर के रूप में ही नहीं, दयावीर, दानवीर और धर्मवीर के रूप में भी चित्रित किया है। किसी जानवर के आदमी पर झपटने की बात सुनते ही रेंजर (परिवर्तित भेष में माधव महाराज) उसे बचाने के लिए दौड़ पड़ता है और घायल होकर भी जानकी को बचा लाता है।[3] जो मगरमच्छ किसी अन्य के लिए भय का आलम्बन होता, वही महाराज के लिए उत्साह का है। जानकी को सुरक्षित बचा लाना माधव महाराज की प्रजा-वत्सलता, परदुःखकातरता और युद्धवीरता का, मास्टर धनिक लाल और कस्तूरी के प्रति दयालुता[4] दयावीरता और कवि को पुरस्कृत करना[5] दानवीरता का प्रमाण है। प्रजा-वत्सल महाराज का भूखे धनिकलाल के लिए स्वयं भोजन बनाने में सहायता करना[6] और प्रजा से सुख-दुख की जानकारी के लिए भेष बदल कर घूमना[7] उनकी धर्मवीरता को ही व्यंजित करता है। महाराज सब कौमों को बराबर मानते हैं।[8] उनकी इस नीति की प्रशंसा हिन्दू ही नहीं, मुसलमान भी करते हैं। नाटक का एक मुसलमान पात्र कहता है—'हिन्दू हो या मुसलमान एक भाव से दोनों को निभाते हैं। हिन्दुस्तान में मेरे देखे ऐसा राज्य ग्वालियर ही है जो सदियों से बिना शोर मचाये हिन्दू-मुसलिम एका साधता आ रहा है।'[9] माधव महाराज की देशभक्ति और मातृ-भक्ति भी देखने लायक है।

धनिकलाल के कस्तूरी के प्रति स्नेह में वात्सल्य, गंगादीन-कस्तूरी के पारस्परिक स्नेह में प्रेयान् और रेंजर के माधव महाराज सिद्ध होने में अद्भुत भाव की अभिव्यक्ति हुई है। रेंजर के महाराज-रूप में प्रकट होने पर दामोदर पटवारी की विसंगत स्थिति हास्य-सृष्टि में सहायक है। नाना के चापलूसीपूर्ण कथन भी हास्य की सृष्टि करते हैं। बीच-बीच में धनिकलाल द्वारा शेरो-शायरी और काव्यांशों के पाठ से नाटक की

---

१. अन्नदाता माधव महाराज महान, पृ० ६२
२. वही, पृ० ४२
३. वही, पृ० १५
४. वही, पृ० २१, २५, ४०, ४१ आदि
५. वही, पृ० ४०
६. वही, पृ० ७०
७. वही, पृ० २६
८. वही, पृ० ४२
९. वही, पृ० ५२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रसात्मकता में निश्चय ही वृद्धि हुई है। निस्संदेह पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'अन्नदाता माधव महाराज महान' एक रसात्मक नाटक है।

राखी की लाज (सन् १९४६) : वृन्दावनलाल वर्मा

सुप्रसिद्ध उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक 'राखी की लाज' (सन् १९४६ ई०) का ताना-वाना जीवन की कुछ वास्तविक घटनाओं के आधार पर बुना गया है, यह उनके इस नाटक की 'परिचय' शीर्षक भूमिका से स्पष्ट है। इस सामाजिक नाटक की मुख्य कथा राखीबन्द भाई-बहिन के पारस्परिक स्नेह-सम्बन्ध की है, जिसके साथ चम्पा और सोमेश्वर की प्रेम-कथा भी अनुस्यूत है। बाँसी बस्ती के धनाढ्य सेठ बालाराम की सुपुत्री चम्पा एक आवारा सपेरे मेघराज़ के हाथ में अनायास राखी बाँध देती है जो उसी रात उसके घर पड़ने वाली डकैती से अपने गिरोह का विरोध कर उसकी और उसके पिता की रक्षा करता है। राखी के ऋण से उऋण होने के लिए मेघराज न केवल सोमेश्वर के साथ चम्पा के विवाह के लिए उसके पिता को राज़ी ही करता है, वरन् अपनी कमाई के ग्यारह रुपये थाल में रखकर दूल्हे को टीका भी करता है। इस प्रकार इस नाटक का मुख्य उद्देश्य रक्षा-बन्धन का महत्त्व-प्रतिपादन है।

'राखी की लाज' आद्यन्त एक रसात्मक कृति है। इसका अंगी प्रेयान् रस है और अंग रसों के रूप में शृंगार, वीर, हास्य, भयानक आदि रसों की योजना है, साथ ही देशभक्ति-भाव की भी। प्रेयान् रस का स्थायी भाव स्नेह है। स्नेह उस निश्छल मनोवृत्ति को कहते हैं जो स्वभावतः जन्मना एक-दूसरे के प्रति रहती है। यह स्नेह दो समलिंगी अथवा विषमलिंगी मित्रों या सम्बन्धियों के बीच हो सकता है। 'राखी की लाज' में स्नेह का यह सम्बन्ध मेघराज-चम्पा, चाँद खाँ—करीमुन्निसा, सोमेश्वर-करीमुन्निसा और सोमेश्वर तथा चाँद खाँ के बीच है। ये पात्र न केवल सुख-दुःख में एक-दूसरे के काम आते हैं, वरन् सच्चे हृदय से एक-दूसरे से स्नेह भी करते हैं। प्रेयान् रस के आलम्बन वे मित्र अथवा सम्बन्धी हुआ करते हैं जिनमें परस्पर प्रेम, विश्वास और सद्भाव का कोमल सम्बन्ध होता है। उपर्युक्त पात्रों में आद्यन्त यह सम्बन्ध बना है। यहाँ तक कि आवारा सपेरा मेघराज, जो डाकुओं के गिरोह का एक सदस्य भी है, जब यह देखता है कि वह अपनी राखीबन्द बहिन चम्पा के ही घर डाका डाल रहा है तो उसका स्नेह उद्बुद्ध हो जाता है। उसे पहचान कर जब चम्पा यह कहती है—'भैया भैया—राखी की लाज! अपनी बहिन को बचाओ! भैया तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ।'[1]—तो बहिन को विपत्तिग्रस्त देखकर उसका स्नेह उद्दीप्त हो उठता है और अपने प्राणों की परवाह न कर वह अपने गिरोह के विरुद्ध उठ खड़ा होता है। अपनी बहिन, उसके पिता और उनकी संपत्ति की रक्षा कर वह अपने प्राणों को संकट में डाल देता है पर उसे प्रसन्नता है कि वह अपनी राखीबन्द बहिन के किसी

---

१. राखी की लाज, पृ० ३३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

काम आ सका। जब डाकू इस गद्दारी के कारण मेघराज को एक पेड़ से बाँध कर जान से मारने को उद्यत होते हैं तो मेघराज डाकुओं के सरदार से कहता है—'मार दो; मार दो। जितनी खुशी मुझको मरने में हो रही है उतनी तुमको मेरे मारने में नहीं मिलेगी।'[1] जव संयोगवश बचकर मेघराज चम्पा के घर आ जाता है तो उसकी जो तीमारदारी वह करती है और उसे पुलिस से बचाने के लिए जो प्रयत्न करती है वह राखीबन्द भाई के प्रति उसके सच्चे प्रेम को व्यंजित करने को पर्याप्त है। प्रेयान् रस के परिपाक के लिए वृन्दावनलाल वर्मा ने 'राखी की लाज' में स्नेह के आश्रय और आलम्बनों के अनुभावों का चित्रण प्रेमपूर्वक पारस्परिक अवलोकन, चुहलबाज़ी और यथावसर अश्रुप्रवहण के द्वारा भी किया है। चम्पा-करीमुन्निसा और सोमेश्वर-चाँदखाँ के संलापों में इसी चुहलबाज़ी के दर्शन होते हैं। अनुभाव-विधान और व्यभिचारी भावों के विधान में वृन्दावनलाल वर्मा वहुत दक्ष हैं—'राखी की लाज' इसका प्रमाण है। संचारी भावों के अन्तर्गत चिन्ता, उद्वेग, ग्लानि, अश्रुप्रवाह, विस्मय, मोह, स्मृति, कम्प, चापल्य, हर्ष, आवेग, गर्व, विषाद, औत्सुक्य आदि की इस नाटक में अच्छी योजना है। संक्षेप में 'राखी की लाज' में राखीवन्द भाई-बहिन और मित्रों-सखियों का पारस्परिक स्नेह-भाव दर्शन, स्मृति आदि के द्वारा उद्‌बुद्ध, रोमांच, भुज-क्षेप आदि अनुभावों से परिव्यक्त और हर्ष, आवेग, चापल्य, मोह आदि संचारी भावों से परिपुष्ट होकर प्रेयान् रस में निष्पन्न हो गया है।

चम्पा और सोमेश्वर का पारस्परिक रति-भाव 'राखी की लाज' में विभावानुभावादि से परिपुष्ट होकर शृंगार रस में परिणत हो गया है और अन्ततः वे परिणय-सूत्र में बँध भी गये हैं, फलतः नाटक सुखान्त है। चम्पा और सोमेश्वर सजातीय उत्तम-प्रकृतिक युवा हैं और एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट हैं। चम्पा पन्द्रह वर्षीया, गौर वर्णा, बड़ी-बड़ी आँखों वाली, सुन्दर आकृति की युवती है[2] और सोमेश्वर उन्नीस वर्षीय, हृष्ट-पुष्ट,[3] पढ़ा-लिखा समाज-सेवी युवक। दोनों एक-दूसरे के सौन्दर्य और गुणों पर मुग्ध हैं और मन-ही-मन एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। वे परस्पर रति के आश्रय-आलम्बन हैं और पारस्परिक दर्शन-संभाषण से उनका रति-भाव उद्‌बुद्ध और वीरता, समाज-सेवा आदि गुणों से उद्दीपित और प्रगाढ़ होता है। उसके अनुभावों की इस नाटक में सुन्दर योजना है और उसका अभिनय नयनचातुर्य, भ्रू-निक्षेप, कटाक्ष-संचार, चेहरे की लालिमा, मुस्कान, अश्रु, मुख-वैवर्ण्य और वाक्यादि के द्वारा किया जा सकता है। नाटककार ने कोष्ठकों में यथास्थान इन अनुभावों का उल्लेख किया है। संचारी भावों के रूप में मोह, चिन्ता, अपस्मार, व्रीडा, मति, आदि भी यथा-स्थान विन्यस्त हैं। सोमेश्वर के रुग्ण हो जाने पर चम्पा की चिन्ता, मोह, अपस्मार आदि की अच्छी

---

१. राखी की लाज, पृ० ३७
२. वही, पृ० १२
३. वही, पृ० १३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

व्यंजना हुई है ।[1] एक-दो स्थलों पर नाटककार ने सोमेश्वर-चम्पा के मिलन-दृश्यों की भी योजना की है,[2] पर उसके चित्रणों में कहीं अश्लीलता नहीं है । मिलन के ये दृश्य पर्याय संयत और कलात्मक हैं । सोमेश्वर के निर्धन परिवार से सम्बद्ध होने के कारण चम्पा का पिता उसके साथ चम्पा का विवाह नहीं करना चाहता, अतः ललितपुर के एक लड़के से विवाह पक्का कर आता है, पर मेघराज, करीमन आदि के प्रयत्नों से वह सम्बन्ध तोड़कर सोमेश्वर के साथ ही चम्पा का विवाह कर देता है । इस प्रकार सोमेश्वर तो फल प्राप्त करता ही है, मेघराज भी दूल्हे को टीका कर और अपनी कमाई के ग्यारह रुपये थाल में रखकर मनोवांछित फल प्राप्त करता है ।

जैसा कि कहा जा चुका है, 'राखी की लाज' का अंगी प्रेयान् रस है । नाटक का नामकरण भी तदनुकूल है । श्रृंगार इसका अंग-भूत है, किन्तु नाटक में इसके विस्तार को देखते हुए इसे अंगी मानने की भूल की जा सकती है । अंग रस का यह विस्तार वस्तुतः रस-दोष माना गया है, पर यहाँ यह नाटक की अनिवार्यता के रूप में आया है । नाटक का नायक सोमेश्वर को माना जाय या मेघराज को, यह विवाद्य हो सकता है, पर नाटक का नामकरण और मेघराज के कृत्य अन्ततः परम्परा भिन्न दृष्टि से उसी को नायक प्रमाणित करते हैं । राखीबन्द बहिन चम्पा का विवाह उसके प्रेमी से कराकर ही वह रक्षा-बन्धन के ऋण से उऋण होता है—यही नाटक का फलितार्थ है, अतः नाटक की यह परिणति भी अनिवार्य है ।

'राखी की लाज' घटना-प्रधान सामाजिक नाटक है, फलतः इसमें न तो जीवन की कोई गहरी समस्या है और न पात्रों का अन्तःसंघर्ष ही । हाँ, एक-दो स्थलों पर वाह्यसंघर्ष की स्थिति अवश्य आयी है, जहाँ नाटककार ने अंगभूत वीर-रस की अच्छी योजना की है । डाकू जब बालाराम के घर डाका डालने आते हैं तो ग्रामीण युवक—विशेषकर सोमेश्वर और चाँदखाँ उनकी बन्दूकों की परवाह न करते हुए लाठियों से ही उनका मुकाबला कर उन्हें घायल कर देते हैं ।[3] उनका यह उत्साह और साहसपूर्ण कृत्य वीरता का व्यंजक है । हैज़े के प्रकोप के समय भी ये युवक जो समाज-सेवा करते हैं[4], वह उनकी निर्भीकता और उत्साह की ही सूचक है । बाद में तो युवतियाँ—चम्पा, करीमन आदि—भी इस कार्य में उत्साहपूर्वक जुट कर अपने साहस का परिचय देती हैं । थानेदार से जिस निर्भीकता के साथ चम्पा, सोमेश्वर और चाँदखाँ वार्तालाप करते हैं, वह देखते ही बनता है । इन सब स्थलों पर तो वीर-रस की व्यंजना है ही, मेघराज के सभी कृत्य भी वीरता-व्यंजक हैं । कुछ स्थलों पर भयानक रस की योजना भी है । यह सुनकर कि उसके पिता बालाराम के घर काला साँप निकला है, चम्पा चीख पड़ती

---

१. राखी की लाज, पृ० ५५-५६
२. वही, पृ० २२-२३
३. वही, पृ० ३४-३५
४. वही, पृ० ५०-५२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

है।[1] यहाँ उद्बुद्ध स्थायी मात्र होने से भय की स्थिति भावात्मक है, किन्तु डाकुओं के आने, बालाराम और चम्पा पर बन्दूक तानने और सरदार के भयानक स्वर में चीख और कड़ककर बालाराम को आतंकित करने की घटना[2] विभावादि से पुष्ट होने के कारण भयानक रस की सृष्टि में समर्थ है।

उपर्युक्त रसों के अतिरिक्त 'राखी की लाज' में कुछ भावों की भी अंग रूप में योजना है। मेघराज जो जादू के खेल दिखाता है[3] वह पाठक-दर्शक के विस्मय को उद्बुद्ध करता हैं तो बालाराम की चम्पा की सुख चिन्ता[4] वात्सल्य-भाव को। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप बीच-बीच में वर्तमान दुर्दशा के चित्रण[5], समाज-सुधार[6], देश-रक्षा[7] आदि की चर्चा देश प्रेम और राष्ट्रीय चेतना को व्यंजित कर देशभक्ति का भाव उद्बुद्ध करती है। सोमेश्वर-चाँदखाँ, चम्पा-करीमन, करीमन-सोमेश्वर तथा बाँसी में रहने वाले हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक स्नेह-सम्बन्धों के द्वारा नाटककार ने हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की जो व्यंजना की है, वह भी देशभक्ति-भाव का ही अंग है। मेघराज जिन युवकों को अखाड़े में सिखाता है, उन्हें वह कहता है—'अपने को स्वस्थ और बलिष्ठ बनाकर गाँव और देश की रक्षा नागराज बनकर करो।'[8] उसका यह कथन देशप्रेम का व्यंजक है। नाटक में यत्र-तत्र हास्य की भी रस-भाव रूप में योजना है। मित्रों, सखियों की पारस्परिक चुहलबाजी में तो हास्य है ही, जादू के खेल दिखाते मेघराज का यह कथन भी हास्योत्पादक है: 'सोचिये तो साहब, संसार में ऐसा कौन होगा जो थोड़े से पैसों के लिये आसानी से अपना खोपड़ा चटकवा दे?'[9] एक दृश्य में आधुनिक लड़के-लड़कियों के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्धों पर परम्परा प्रेमी नारियों द्वारा व्यंग्य की योजना भी इस नाटक में है।[10]

तीन अंकों और बाईस दृश्यों के इस नाटक में स्थान और कार्य की एकता है। समय का भी अधिक व्यवधान नहीं है। प्रमुख पात्रों की संख्या कम है, साथ ही दृश्य-विधान सरल और भाषा नाट्यात्मक एवं सर्वजन संवेद्य है। संवाद सरस और संक्षिप्त हैं और कथानक सुगठित। नाटककार ने अपने लम्बे नाट्य-निर्देशों के द्वारा स्थान और समय की सूचना तो दी ही है, प्रमुख पात्रों की आयु, मुखाकृति और वेश-भूषा का भी परिचय दिया है। नाटक अभिनेय है। रंगमंच पर अभिनीत होकर यह नाटक अपेक्षित

१. राखी की लाज, पृ० १७
२. वही, पृ० ३२-३३
३. वही, पृ० १४
४. वही, पृ० ७८
५. वही, पृ० ५०-५१
६. वही, पृ० ७०, ७९-८०
७. वही, पृ० ८३
८. वही, पृ० ८३
९. वही, पृ० १६
१०. वही, पृ० ५७-५९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रभाव द्वारा रसानुभूति कराने में सफल होगा।

बाँस की फाँस : वृन्दावनलाल वर्मा

दो अंकों और क्रमशः चार, तीन दृश्यों में लिखित 'बाँस की फाँस' सन् (१९४७ ई०)[1] डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा का बहुचर्चित मनोवैज्ञानिक नाटक है। डॉ० गणेशदत्त गौड़ ने 'मनोविकृतियों के प्रेरक तत्त्वों के वर्ग' की एक प्रमुख नाट्य-कृति के रूप में इसका विश्लेषण किया है[2] तो डॉ० शिवराम माली ने एक प्रतिनिधि स्वच्छन्दतावादी मनोवैज्ञानिक नाटक के रूप में।[3] इसके विपरीत प्रो० जयनाथ 'नलिन' इसे घटना-प्रधान नाटक मानते हैं। उनका मत है कि 'बाँस की फाँस' में समाज की कोई भारी उलझनभरी और मनोवैज्ञानिक समस्या नहीं है।[4] उनका यह मत आंशिक रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। घटना-चक्र संयोग और आकस्मिकता पर आधारित होने के ही कारण इस नाटक को अमनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। जीवन में घटित कोई सामान्य-सी घटना भी किसी के जीवन में ग्रन्थि का रूप धारण कर उसके भावी जीवन की नियामिका वन सकती है—आकर्षण-विकर्षण अथवा प्रतिशोध का मूलाधार वन सकती है और इस नाटक में भी यही हुआ है। अस्तु !

ग्वालियर रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म पर गाड़ी की प्रतीक्षा करते समय गोकुल और फूलचन्द नामक दो छात्रों की भेंट मन्दाकिनी और पुनीता से होती है। मन्दाकिनी उच्च-कुलोत्पन्ना है। पुनीता भी कुलीना है पर भाग्यचक्र और परिस्थितिवश भिखारिन है। दोनों छात्र और फौजी अफसर हवलदार भीडाराम मन्दाकिनी को कनखियों से देखते हैं, संकेत करते हैं और पारस्परिक वार्तालाप से उसके प्रति ललक व्यक्त करते हैं। छात्रों और हवलदार में कहासुनी भी हो जाती है, पर मामला मारपीट तक नहीं पहुँचता। इसी बीच, वहाँ अपनी बुढ़ियाँ माँ के साथ भिखारिन पुनीता आती है जो अपने मधुर-सुरीले गीतों-से जन-मन मोहकर कुछ राशि प्राप्त करती है। गोकुल पुनीता के गीत की प्रशंसा करता है, उसे कुछ पैसे देता है और कुछ देर बाद उसकी ओर देखकर आँख दबाकर मुस्कराता है। पुनीता उसके इस व्यवहार पर रुष्ट होकर उसके प्रति अपशब्दों का प्रयोग करती हुई चली जाती है। गाड़ी के आने पर फूलचन्द मन्दाकिनी का सामान उठाकर उसे चढ़ाने में सहायता करता है। संयोगवश यह गाड़ी दुर्घटनागस्त हो जाती है और मन्दाकिनी और पुनियाँ गम्भीर रूप से घायल हो जाती हैं। मन्दाकिनी के लिए फूलचन्द रक्त देता है और पुनियाँ (पुनीता) के लिए अपने शरीर का चमड़ा और रक्त गोकुल। मंदाकिनी के स्वस्थ होने पर गोकुल उस पर अपना एहसान जताता है और विवाह का प्रस्ताव रखता है किन्तु मंदाकिनी उसके

---

१. 'बाँस की फाँस' पूर्व-स्वाधीनताकालीन रचना है। इसकी 'परिचय' शीर्षक भूमिका २६-३-१९४७ ई० की है।
२. दे० आधुनिक हिन्दी-नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० २५५-५८
३. दे० स्वच्छन्दतावादी नाटक और मनोविज्ञान, पृ० २५४-५७
४. हिन्दी नाटककार, पृ० २२३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

स्टेशन के व्यवहार के कारण अपने अन्तर्मन में उसे एक लफंगा समझती है, अतः उसके इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। दूसरी ओर गोकुल पुनीता की सेवा तो करता है पर गंभीर बना रहता है। वह उसे यह भी नहीं बताता कि उसकी जीवन-रक्षा के लिए उसी ने चमड़े और रक्त का दान किया है। पुनीता को जब डाक्टर से इस तथ्य का पता लगता है तो उसके हृदय में गोकुल के प्रति अगाध प्रेम उमड़ पड़ता है। और वह अपने उस दिन के अपशब्दों के प्रयोग के लिए क्षमा-याचना करती है गोकुल भी आँख दबाने के अशिष्ट व्यवहार पर लज्जित होता है, फलतः दोनों के मन की फाँस निकल जाती है और वे परस्पर परिणय-सूत्र में बँध जाते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'बाँस की फाँस' में दो समानान्तर कथाएँ हैं—एक फूलचन्द और मन्दाकिनी की तथा दूसरी गोकुल और पुनीता की। ये दोनों ही कथाएँ मूलतः काम-चेतना से अनुप्राणित हैं। इनके माध्यम से नाटककार ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि मनोग्रस्त व्यक्तियों की रति-चेतना परिपाक तो तभी प्राप्त कर सकती है, जब वे मनोग्रस्तता से मुक्त हो जाते हैं—जब उनके मन की फाँस निकल जाती है। गोकुल और पुनीता के संदर्भ में यह संभव हो सका, अतः वे जीवन-साथी बन गये; फूलचन्द और मंदाकिनी के संदर्भ में यह सम्भव नहीं हो सका, अतः परस्पर अनुरक्त होते हुए भी वे परिणय-सूत्र में नहीं बँध सके। आनुषंगिक कथा के रूप में हवलदार भीडाराम से सम्बद्ध घटनाओं की योजना है, जिसका मुख्य उद्देश्य है हास्य-व्यंग्य की सृष्टि।

स्पष्टतः 'बाँस की फाँस' में शृंगार रस की योजना अंगी के रूप में है और हास्य, वीर आदि की अंग-रूप में। युवा नर-नारियों की पारस्परिक अनुरक्ति से ही यह नाटक शुरू होता है और गोकुल एवं पुनीता के परिणय-सूत्र में बँधने की सहमति पर समाप्त। वस्तुतः गोकुल इस नाटक का नायक और पुनीता इसकी नायिका है। अन्ततः गोकुल को ही फल की प्राप्ति होती है। फूलचन्द और मंदाकिनी इस नाटक के प्रधान पात्र ही हैं, नायक-नायिका नहीं।

जहाँ तक विभाव-विधान का प्रश्न है वह तो स्वतः स्पष्ट है। पुनीता गोकुल के रति-भाव का आलम्बन है तो मन्दादिनी फूलचन्द के। पुनीता और मन्दाकिनी के संदर्भ में क्रमशः गोकुल और फूलचन्द ही आलम्बन हैं। मन्दाकिनी का रात्रि के समय स्टेशन पर अकेले गाड़ी की प्रतीक्षा करना उद्दीपन विभाव है तो पुनीता का रूप-लावण्य, मधुर कण्ठ और साहसपूर्ण व्यवहार।

फूलचन्द का मन्दाकिनी की ओर कनखियों से देखना, हँसना, फौजी अफसर को मन्दाकिनी की ओर कुछ अधिक ध्यान के साथ घूरते हुए देख कर उससे झगड़ा मोल लेना आदि अनुभावों के द्वारा[1] नाटककार ने मन्दाकिनी के प्रति उसकी अनुरक्ति को ही व्यक्त किया है। मन्दाकिनी का भी उन मित्रों की बातों को ध्यान से सुनना, हँसी के मारे मुँह दाब लेना, हँसना, शर्माना आदि अनुभाव हैं।[2] गोकुल के

१. बाँस की फ़ाँस, पृ० ३-८
२. वही, पृ० ६-१०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

रति-भाव की व्यंजना पुनीता के गीत की प्रशंसा, आँख दबाने, मुस्कराने आदि के द्वारा हुई है।[1]

नाटक में व्यभिचारी भावों की भी सुन्दर योजना है। गोकुल प्रतिद्वन्द्विता के ही कारण भीडाराम से लड़ने को सन्नद्ध हो जाता है और उस पर रोष करता है। वह भीडाराम का मज़ाक उड़ाते हुए उसे इसी कारण नीचा दिखाता है ताकि मन्दाकिनी उसके इस कार्य से प्रसन्न होकर उसके प्रति अनुरक्त हो सके। फौजी अफसर से झगड़ा मोल लेने में उसके अवचेतन का यही भाव क्रियाशील है। ट्रेन-दुर्घटना के समाचार से यदि फूलचन्द मन्दाकिनी के लिए चिन्तित है[2] तो गोकुल पुनयाँ के लिए[3]। फूलचन्द मन्दाकिनी के लिए जो रक्तदान करता है[4], वह रतिज ही है। गोकुल पुनीता के लिए अपने शरीर का जो चमड़ा देता है और रक्तदान करता है, अपने मित्र फूलचन्द से वह उसका मूल कारण हिंसा (प्रतिशोध) बतलाता है[5], पर उसका अवचेतन भी काम-भाव प्रेरित ही है। वह ऐसा अपनी आत्म-गोपन-प्रकृति के कारण करता है।

फूलचन्द तो मन्दाकिनी के प्रेम में जैसे उन्मत्त ही है। उसी ने उसे कवि बना दिया है। मन्दाकिनी को जब वह रेल के डिब्बे में बिठा कर आता है तो उसके हर्ष का पारावार नहीं। उसके मुँह से जो शब्द निकलते हैं वे कवित्वमय, आलंकारिक, कोमल-कान्त पदावली-युक्त और माधुर्य गुणोपेत हैं। उसके कथन उसकी मनःस्थिति के व्यंजक एवं श्रृंगार रसानुकूल हैं। अपने मित्र गोकुल से उस समय का उसका वार्तालाप द्रष्टव्य है :

फूलचन्द—गोकुल, ये थोड़े से पल कैसे मधुर और कैसे मदिर बीते हैं—जैसे गगन की गंगा ने मधु का प्लावन कर दिया हो।

गोकुल—(अनमनेपन को दबाते हुए) हाँ, तुम्हारे लिए कविता स्वाभाविक ही है। कुछ बातचीत हुई ?

फूलचन्द—हाँ, बहुत। उसने जीवन के निर्झर को मुक्त-सा कर दिया। जी चाहता है कि पृथ्वी की सुगन्धियों, ओस के मोतियों, पवन की झकझोरों, आकाश की झिलमिलों और जल की रंगीनियों की पंचलताओं पर कुछ लिख डालूं।[6]

वृन्दावनलाल वर्मा ने इसी प्रकार 'बाँस की फाँस' में यत्र-तत्र श्रृंगार रस का परिपाक किया है। प्रथम अंक के तीसरे दृश्य की योजना[7] फूलचन्द और मन्दाकिनी के मिलन और एकान्त वार्तालाप के ही लिए की गयी है। इस दृश्य में उनके पारस्परिक अनुहारों, मनुहारों और उलाहनों का अच्छा विधान है। उनका यह संयोग, उनके अपने अहम् और मनोग्रस्तता के कारण चिर-वियोग में परिणत हो जाता है। न तो फूलचन्द

---

१. बाँस की फाँस, पृ० १०-११
२. वही, पृ० २८, ३०, ३१
३. वही, पृ० २९-३०
४. वही, पृ० ३२
५. वही, पृ० ३४
६. वही, पृ० २०-२१
७. वही, ३७-४३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

मन्दाकिनी के माँ-बाप से मिलकर उसे अपने लिए माँगने को तैयार होता है और न मन्दाकिनी बिना माता-पिता की अनुमति के फूलचन्द से विवाह के लिए ही। फूलचन्द सोचता है कि उसके त्याग को देखकर मन्दाकिनी स्वयं उससे विवाह कर लेगी, पर रक्तदान का आत्मविज्ञापन उसके मार्ग में आड़े आ जाता है। मन्दाकिनी के ये शब्द उसकी आशाओं पर तुषारापात कर देते हैं : '···डिब्बे में विरतर रख देने और चार आउन्स खून दे देने से स्त्रियाँ खरीदी नही जा सकतीं। आप अपने घर जाइये, मैं अपने घर जाती हूँ। नमस्ते !'[1] वस्तुतः इस सम्बन्ध-विच्छेद के मूल में जहाँ मन्दाकिनी की मनोग्रस्तता और अहम् भाव हैं वहाँ फूलचन्द की आत्मविज्ञापन की प्रवृत्ति, छिछोरापन, समायोजन की अक्षमता और अहम् को विगलित न कर पाना आदि भी हैं। इन दोनों के रति भाव की वैवाहिक अपरिणति के द्वारा नाटककार ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की नाटकीय अभिव्यक्ति की है कि प्रेम-परिपाक के लिए अहम् का विगलन, एक-दूसरे को समझने और समायोजन की क्षमता और एक सीमा तक गाम्भीर्य भी आवश्यक है। अपने इन्हीं गुणों के कारण गोकुल और पुनीता अन्ततः जीवन-साथी बन सके।

गोकुल और पुनीता के पारस्परिक प्रेमालाप, उद्यान-गमन, हास-परिहास और मिलन का चित्रण भी नाटककार ने द्वितीय अंक के तृतीय दृश्य में किया है।[2] इस दृश्य में नाटककार ने तीन गीतों की योजना की है जो पुनीता की मनःस्थिति के व्यंजक हैं। हास, मुख राग, कण्ठावरोध, लज्जा आदि अनुभावों तथा चिन्ता, मति आदि व्यभिचारियों की भी सुन्दर योजना है। इन विभावानुभावादिकों के द्वारा नाटककार ने समग्रतः शृंगार रस का परिपाक किया है जो निश्चय ही इस नाटक का अंगी है। बीच-बीच में मानव-मन की विचित्रता के चित्रण के साथ बाह्य संघर्ष की स्थितियाँ भी विनियोजित हैं, जो प्रेमियों के रति-भाव को और भी परिपुष्ट करती हैं। पुनीता की बुढ़िया माँ का गोकुल के प्रति जो रोष है[3] वह इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए है। हवलदार भीडाराम की प्रासंगिक कथा का भी यही लक्ष्य है।

अंग-रस के रूप में 'बाँस की फाँस' में हास्य की अच्छी योजना है। यह शृंगार का मित्र-रस है, अतः नाटककार ने यत्र-तत्र इसका विधान किया है। गोकुल और फूलचन्द के पारस्परिक संलापों[4] के अतिरिक्त भीडाराम के मूर्खतापूर्ण कथनों से भी हास्यानुभूति होती है। एक उदाहरण देखिए—

'फूलचन्द—आपने रामायण का नाम सुना है?

भीडाराम—हाँ जी। राम लच्छमन और रावण वाली न?

गोकुल—हाँ-हाँ वही जी, वही तुलसीदास की ही लिखी तो वह रामायण है।

भीडाराम—[हँसकर] हाँ जी उस तुलसीदास का नाम तो सुना है। रामायण

---

१. बाँस की फाँस, पृ० ४२
२. वही, पृ० ६०-६६
३, वही, पृ० ६५-६६
४. वही, पृ० ३-४, १४, २२ आदि

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

कभी-कभी सुनी तो है, पर पढ़ने का वक्त नहीं मिला। मिला ही नहीं काम के मारे।

गोकुल—आपको तुलसीदास का नाम खूब याद रहा।

(मन्दाकिनी मुस्कराती है)

भीडाराम—(हँसकर) हाँ जी। हमको याद तो बहुत रहता है। तुलसीदास नाम का सिपाही जो हमारे बेड़े में था। याद क्यों न रखता?

फूलचन्द—भाई वाह! भाई वाह!! (हँसता है)

भीडाराम—वह हमारी साईकिल में फुक्की मारा करता था।

गोकुल और फूलचन्द—(दोनों हँसते हुए) ओफ हो! ओफ हो! हो!!"[1]

इसी प्रकार डाक्टर के कुछ संलापों[2] के अतिरिक्त गोकुल और पुनीता[3] तथा फूलचन्द और मन्दाकिनी के[4] हास-परिहास से भी हास्य-सृष्टि हुई है। कहीं-कहीं हास्य के साथ व्यंग्य भी घुल-मिल गया है।

हास्य रस के साथ क्रोध, उत्साह, अमर्ष आदि भावों की भी 'बाँस की फाँस' में शृंगार के अंग-रूप में अच्छी योजना है। गोकुल और फूलचन्द के साथ भीडाराम के कुछ संवादों में क्रोध की व्यंजना है।[5] हवलदार के प्रति फूलचन्द का क्रोध, व्यंग्य और तिरस्कार का व्यवहार ईर्ष्याजन्य है। हवलदार भीडाराम को मन्दाकिनी की ओर घूरते देखकर, फूलचन्द के अवचेतन में जो ईर्ष्या उद्बुद्ध होती है, वह चेतन के स्तर पर उपर्युक्त रूपों में व्यक्त हुई है। गोकुल पुनीता की जीवन-रक्षा के लिए सहर्ष अपने शरीर के चमड़े और रक्त का जो दान करता है[6] वह उसके उत्साह और निर्भीकता का परिचायक है। यही भाव फूलचन्द के मन्दाकिनी के लिए रक्तदान में भी व्यंजित है।[7] बुढ़िया माँ नाटक के अंतिम दृश्य में गोकुल को फटकारते हुए जो कुछ कहती है[8] उसके मूल में पुनीता का हित-चिन्तन है—उसका अमर्ष वात्सल्य-प्रेरित है। पुनीता का अपनी माँ के लिए चिन्तित होना[9] और उसकी माँ का उसे ढूँढते-ढूँढते अस्पताल तक आना, उसके लिए व्यग्र और चिन्तित होना तथा उसके मिल जाने पर हर्षातिरेक में डूब जाना आदि[10] वात्सल्याभिव्यंजक हैं। इन भावों के साथ नाटककार ने स्मृति, दैन्य आदि का भी यथा-स्थान विधान किया है। पुनीता की माँ—बुढ़िया लोगों के तानों से तंग आकर कभी-कभी, एक क्षण के ही लिए सही, पूर्व स्मृतियों में खो जाती है[11] पर साथ

---

१. बाँस की फाँस, पृ० ५-६
२. वही, पृ० ३२-३४, ३७, ४५ आदि
३. वही, पृ० ४४, ६०
४. वही, पृ० ३८-४०
५. वही, पृ० ८-६
६. वही, पृ० ३४
७. वही, पृ० ३६
८. वही, पृ० ६५-६७
९. वही, पृ० ४५
१०. वही, पृ० ५१-५८
११. दे० वही, पृ० ५२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

ही दैन्य का प्रदर्शन भी करती है।[1] कहीं-कहीं बड़े लोगों के आडम्बरपूर्ण, दोगले जीवन का भण्डा फोड़कर उनके प्रति वितृष्णा उत्पन्न की गयी है[1], पर नाटक में इस प्रकार के स्थल बहुत अधिक नहीं हैं। इसी प्रकार, तद्युगीन चेतना के अनुरूप, देश और समाज का काम करने की बात भी एक गौण पात्र के मुँह से कहलवायी गयी है[2] किन्तु नाटक के समग्र-प्रभाव को देखते हुए इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

निष्कर्षतः 'बाँस की फाँस' आद्यन्त रसात्मक है। इसमें पाठक-दर्शक के मन को बाँधे रखने की क्षमता है। कहीं-कहीं नाटककार ने 'बुलबुल,'[3] 'चिड़िया'[4] आदि शब्दों का भी प्रतीकात्मक-रसात्मक प्रयोग किया है। ये शब्द नारी के प्रतीकार्थ-रूप में प्रयुक्त होकर नाटक की रसात्मकता को बढ़ाने में विशेष समर्थ रहे हैं। निस्संदेह शृंगार इस नाटक का अंगी है तथा अन्य रस-भाव इसकी पुष्टि में सहायक होने से अंग-भूत हैं।

निष्कर्ष

प्रसादोत्तर स्वातंत्र्य-पूर्व प्रतिनिधि हिन्दी-नाटकों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इनमें से अधिसंख्य नाटकों में अंगी-रस या तो देश-भक्ति है अथवा वीर। यह तत्कालीन युगीन चेतना के अनुरूप ही है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' या सेठ गोविन्ददास के ऐतिहासिक नाटकों में तो राष्ट्रीयता की अनुगूँज है ही, अनेक काल्पनिक नाटकों में भी देश-भक्ति का प्रखर स्वर सुनाई पड़ता है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के पहले और अन्तिम ऐतिहासिक नाटक 'जय-पराजय' में वीर-रस के माध्यम से देश के नवयुवकों को मातृ-भूमि पर प्राणोत्सर्ग की प्रेरणा दी गई है। इन प्रतिनिधि नाटकों के अतिरिक्त इस कालावधि के अन्य उल्लेखनीय नाटकों में भी वीरता और देशानुराग के भावों की ही व्यंजना हुई है। इस दृष्टि से यमुनाप्रसाद त्रिपाठी का 'आज़ादी या मौत', प्रो० सत्येन्द्र का 'मुक्तियज्ञ', सेठ गोविन्ददास का 'सेवापथ' और आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का 'द्वापर की राज्य क्रान्ति' विशेषरूपेण द्रष्टव्य हैं। इस कालखण्ड के जिन नाटकों में अंगी देश-भक्ति अथवा वीर रस नहीं है, उनमें भी युगीन प्रभाव के फलस्वरूप वीर अथवा देश-भक्ति की अंगरूप में योजना की गयी है। 'अन्नदाता माधव महाराज महान' (पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'), 'राखी की की लाज' (वृन्दावनलाल वर्मा) आदि का रस-विधान हमारे उक्त कथन को प्रमाणित करता है। प्राक् स्वातंत्र्यकालीन सामाजिक नाटकों में अंगी प्रायः हास्य, शृंगार, प्रेयान्, कार्पण्य अथवा करुण है। विवेच्य काल के नाटक में अंगी एवं अंग रसों के विधान की प्रणाली ऋजु है और संवेदनाओं की जटिलता अपेक्षाकृत न्यून है, फलतः सामाजिक को रसानुभूति में कोई कठिनाई नहीं होती।

१. बाँस की फाँस, पृ० ५८
२. वही, पृ० २४
३. वही, पृ० ६
४. वही, पृ० ५४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

लेखक के प्रकाशित ग्रन्थ

१. आधुनिक युग में नवीन रसों की परिकल्पना (अखिल भारतीय 'सूर पुरस्कार' से सम्मानित)
२. नई कविता और रस-सिद्धान्त
३. रस - संख्या : काव्यशास्त्रीय विश्लेषण (शोध-प्रवन्ध)
४. रस-सिद्धान्त : आक्षेप और समाधान
५. समसामयिक हिन्दी-नाटक : बहु-आयामी व्यक्तित्व
६. नाटककार मोहन राकेश (सं०)
७. साहित्य : आधुनिक.अत्याधुनिक
८. आधुनिक साहित्य : विविध परि-दृश्य (सं०)
९. साहित्य साधक 'अराज' (सं०)
१०. कविता : समकालीन कविता (संयुक्त लेखन)
११. हिन्दी-कविता : अद्यतन भूमिका
१२. समवेत (कविता—संयुक्त संपादन)
१३: टेढ़ी-मेढ़ी सीढ़ियाँ (कविता-सं०)
१४. व्यूह से जूझता अभिमन्यु (कविता संकलन)
१५. रस सिद्धान्त और नाटक

आवास—बी ३/७९, जनकपुरी,
नयी दिल्ली-११००५८
दूरभाष: ५३९९२४

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

डॉ० सुन्दर लाल कथूरिया अत्याधुनिक हिन्दी-समीक्षा के जाने-माने हस्ताक्षर हैं। जिन विद्वानों ने आधुनिक हिन्दी-आलोचना में रस सिद्धान्त की पुन:प्रतिष्ठा के सार्थक प्रयत्न किये हैं, उनमें डॉ० कथूरिया भी उल्लेख्य हैं। इन्होंने रस-सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों पर नयी दृष्टि से विचार किया है, उनसे सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं को उठाया है और उनका समाधान देने का प्रयास किया है। आज नई कविता का रस से कोई सम्बन्ध सामान्यतः नहीं समझा जाता, पर डॉ० कथूरिया ने रस को व्यापक आधार देकर नयी कविता को भी उसमें समाहित कर लिया है। यही बात नाटक के सम्बन्ध में भी कही जाएगी।

'रस-सिद्धान्त और नाटक' ग्रन्थ में डॉ० कथूरिया ने प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक की व्याख्या रस-दृष्टि से की है। यह विवाद का विषय हो सकता है कि रस-सिद्धान्त काव्य एवं नाटक के मूल्यांकन का आधार हो सकता है या नहीं, पर इस तथ्य को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि रस के आधार पर काव्य एवं नाटक की व्याख्या की जा सकती है। रस का आधार है मानवीय राग-विराग, मनुष्य के भाव, और कोई भी रचना इस आधार पर ही निर्मित होती है। 'रस' इतना व्यापक है कि वह नाटक के वस्तु-विन्यास, चरित्र, कार्य-व्यापार, संवाद, अभिनय आदि सभी तत्त्वों में व्याप्त रहता है। डॉ० कथूरिया ने इन सबका बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है तथा रस की दृष्टि से आधुनिक नाटक को समझा-समझाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक के व्यापक अध्ययन, सूक्ष्म विश्लेषण की क्षमता, स्पष्ट चिन्तन तथा प्रभावशाली अभिव्यक्ति-कौशल का परिचायक है। डॉ० सुन्दरलाल कथूरिया का 'रस-सिद्धान्त और नाटक' आधुनिक हिन्दी नाटक की अपनी रसवादी व्याख्या के कारण नाट्य-अध्येताओं द्वारा समादृत होगा, ऐसी आशा है।

—डॉ० सिद्धनाथ कुमार

Devavani Parishad New Delhi